वैदिकधर्म

जुलै १९७४

३० पैसे

☆

'रामचरित मानस' निर्माता

संत गोस्वामी तुलसीदासजी

वैदिक धर्म

वर्ष ५५ : अंक ७ : आषाढ : २०३१

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. वलसाड]

श्री ... पाँसकोटा, ... निवास ... ललितपुर, काठमाण्डु (नेपाल)

संस्थापक एवं आद्यसंपादक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
वसंत श्रीपाद सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

卐

मातृभूमिके हम सुपुत्र — [वैदिक प्रार्थना] — १०३

देवता और असुर; आधुनिक आसुरी यंत्र — श्री सा. — १०४

छत्रपति श्री शिवाजी महाराजके पूर्णतया सफल जीवनमें ऋतसत्यका महत्त्व — श्री श्रीराम माधव चिंगले — १०९

अग्ने नय सुपथा राये ! — श्री भैरवदत्त शुक्ल — ११२

महाभारतकी समालोचना — श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर — ४१ से ४८

' श्रीमद् भागवत महापुराण ' में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ — डॉ. श्री शिवपूजनसिंह कुशवाह — ४१ से ४८

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य — श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर — ५७ से ६९

' वैदिक धर्म ' वार्षिक मूल्य म. आ. से ६) रु.

वी. पी. से रु. ७.५० विदेशके लिए रु. ८.००, डाक व्यय अलग रहेगा।

इस अंकमें प्रसिद्ध किये गये लेखकोंके लेखोंमेंके मतों और विचारोंसे संपादक सहमत है ऐसा नहीं है। उन लेखोंमेंके विचारोंके लिये केवल लेखकही व्यक्तिशः उत्तरदायी हैं।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- ' स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) ' पारडी [जि. वलसाड]

चिर प्रतीक्षित]

[छप गया

पण्डित सातवलेकर-जीवन-प्रदीप

मूल लेखक

श्री पु. पां. गोखले

अनुवादक

श्रुतिशील शर्मा

वेदमहर्षि पं. श्री. दा. सातवलेकरके जिस जीवनचरित्रकी प्रतीक्षा बहुत दिनोंसे की जा रही थी, वह अब छपकर तैय्यार हो गया है।

इस ग्रन्थमें उनके जीवनके हर पक्षको प्रस्तुत किया गया है। उपन्यासकी शैलीसे लिखा गया यह ग्रन्थ पठनीय और संग्रहणीय है।

उत्तम कागज, उत्तम छपाई, मुखपृष्ठ पर पण्डितजीका तीनरंगी आकर्षक चित्र, आकर्षक डेमी साइज, पृष्ठ- ३१५, मूल्य- १०)।

प्रतियां बहुत सीमित हैं। आज ही मंगा लें।

इस ग्रन्थ पर १५% कमीशन दिया जायेगा। आज ही अपना ऑर्डर भेजें।

स्वाध्याय मण्डल, पारडी
जि. वलसार
(गुजरात)

वैदिक धर्म

मातृभूमिके हम सुपुत्र

त्वज्जातास्त्वयिं चरन्ति मर्त्याः
त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा
येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥

(अथर्व. १२-१-१५)

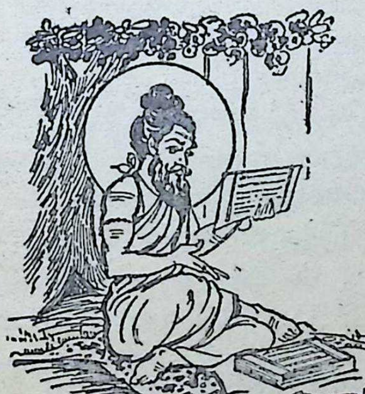

हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि ! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुझमें ही पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुझ पर ही चलते हैं, जिन (द्विपदः) दो पांववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको (त्वं बिभर्षि) धारण करती है (येभ्यः मर्त्येभ्यः) जिन मनुष्योंके लिये (अमृतं) जीवनका हेतुभूत (ज्योतिः) तेज (उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः) उदित हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (आतनोति) फैलाता है, (इमे) ये हम लोग (पंच मानवाः) पांच प्रकारके मनुष्य (तव) तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ।

हे हमारी मातृभूमि ! हम लोग तुझसे उत्पन्न होकर तेरेही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आधार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह देदीप्यमान् सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंको चारों ओर फैलाता है; वे हम पांच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और सेवावृत्तिवाले मनुष्य तेरी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ।

श्री माताजीकी बातचीत—

देवता और असुर; आधुनिक आसुरी यंत्र

प्रश्न– देवता लोग कहांसे आये ?

उत्तर– 'कहांसे आये' का क्या अर्थ ? उनका उद्‌भव कहांसे हुआ ? उन्हें किसने बनाया ... ? किंतु सब कुछका उद्‌भव एक 'मूल स्रोत' से, परमोच्च सत्तासे ही हुआ है, देवताओंका भी।

एक अत्यंत प्राचीन परंपरामें इसको पाया है। बच्चोंकी कहानीके समान मैं इसे तुम्हें सुनाऊंगी, क्योंकि इसी तरह तुम इसे समझ पाओगे।

एक दिन 'भगवान्' ने अपनेको अपनेसे बाहर निकालने, दृश्य रूप देनेका निर्णय लिया, जिसमें वे अपने आपको पूरे ब्यौरेमें जाननेका आनंद ले सकें। अतः उन्होंने सबसे पहले अपनी चेतनाको बाहर निकाला (अर्थात् उसे अभिव्यक्त किया), यह आदेश देकर, कि वह एक विश्वको मूर्त रूप दे। उस चेतनाने अपने अंदरसे चार सत्ताएं, चार व्यक्तित्व निकालकर अपना कार्य आरंभ किया। ये परमोच्च सत्यकी सचमुचमें बडी ही उच्च कोटिकी सत्ताएं थीं। ये थीं :– (१) चेतना, (२) प्रेम और आनन्द, (३) जीवन और (४) सत्य। और स्वभावतः, ये परम शक्तिशाली सत्ताएं थीं। इन्हें इस परंपरामें प्रथम विभूतियां अर्थात् प्रथम रचनाएं कहते हैं। और प्रत्येक अपने गुण, शक्ति, क्षमता, समाव्यताके विषयमें अत्यत सचेतन हो उठीं, तथा प्रत्येक एकाएक अपने अपने ढंगसे यह भूल गयीं कि वे परमोच्च सत्ताकी केवल एक विभूति और मूर्त रूप हैं। और तब जो घटा वह यह: जब ज्योति या चेतनाने (ज्योति और चेतना एक ही वस्तु है) भागवत चेतनासे अपनेको अलगा लिया, अर्थात् जब उसने यह सोचना आरंभ किया कि वह भागवत चेतना है और उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब वह सहसा अंधकार और अचेतना बन गयी। और जब जीवनने सोचा कि सारा जीवन उसीके अंदर निहित है और, कि उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और, कि वह परमोच्च सत्तापर बिलकुल ही आश्रित नहीं है, तब उसका जीवन मृत्यु बन गया। और जब सत्यने सोचा कि उसके भीतर सभी सत्य अवस्थित हैं और, कि उसके अतिरिक्त और कोई सत्य है ही नहीं, तब वह सत्य मिथ्यात्व बन गया। और जब प्रेम और आनन्द विश्वस्त हो गया, कि वह परमोच्च आनन्द है और, कि उसके और उसके आनन्दके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब वह पीडा बन गया। और इसी प्रकार जगत्, जिसे कितना सुंदर बनना था, ऐसा विकृत बन गया। जब उस चेतनाने (यदि चाहो तो तुम उसे भगवती माता, परमोच्च सत्ता कह सकते हो) यह देखा, तब उसे बडे संताप हुआ। उसने सोचा : "अरे, यह तो सचमुचमें सफल नहीं हुआ।" तब वह भगवान्‌की ओर, परमोच्च सत्ताकी ओर मुडी और उनसे सहाय होनेकी याचना की। उसने उनसे कहा : 'यही हुआ है ! अब क्या किया जाय ?" भगवान्‌ने उत्तर दिया : "फिरसे आरंभ करो, किंतु ऐसी व्यवस्था करो कि वे वैसी स्वाधीन सत्ताएं न बन जायं ! उन्हें तुम्हारे साथ, सपर्क बनाये रखना होगा, और तुम्हारे माध्यमसे, मुझसे भी।" और इस प्रकार उसने देवताओंकी रचना की, जो बडे आज्ञाकारी थे तथा उतने घमंडी नहीं थे। इन्होंने जगत्‌की सृष्टिका कार्य आरंभ किया। किंतु, क्योंकि इनसे पहले अन्य सत्ताएं आ चुकी थीं, प्रति पगपर देवताओंकी उनसे भिडंत हुई। और इस प्रकार जगत् लडाई, युद्ध,

संघर्ष, दुःख-कष्ट, अंधकार और ऐसे सब कुछका क्षेत्र बन गया। प्रत्येक नयी सृष्टिके लिये यह आवश्यक हो गया कि देवगण उन दूसरी सत्ताओंके साथ युद्ध करें जो उनसे आगे आयी थीं: वे उनसे पहले आ चुकी थीं, वे अव-तरणमें अधःपतित हो गयी थीं; और उन्होंने यह सारी गड़बड़ी सृष्ट की थी। देवताओंके लिये यह आवश्यक था कि वे सारी गड़बड़ी सुधारें। इस प्रकार देवताओंकी सृष्टि हुई। ये दूसरी बारकी विभूतियां थीं।

प्रश्न- मां वे चार पहली विभूतियां जो बदल गयीं वह संयोगवश हुआ या इच्छित था?

उत्तर- नहीं, संयोगवश क्या?

कहानी यह भी बतलाती है- वह आगे कहानीमें है, बल्कि उसके आरंभमें ही- कि भगवान्‌की इच्छा थी कि सृष्टि स्वच्छंद हो। उनकी इच्छा थी कि जो कुछ उनके भीतरसे निकले वह बिलकुल स्वतंत्र और स्वच्छंद हो, जिसमें वह उनके साथ स्वेच्छासे संयुक्त हो सके, न कि दबावके कारण। उनकी यह इच्छा नहीं थी, कि वफादार होनेके लिये, सचेतन होनेके लिये, आज्ञाकारी होनेके लिये उनपर दबाव डाला जाय। आवश्यक था कि वे यह इस ज्ञान और विश्वासके साथ करें कि यही अधिक अच्छा है। सो, यह जगत पूर्ण स्वतंत्रताके चुनावकी स्वतंत्रताके जगत्‌के रूपमें सृष्ट हुआ। और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिक्षण चुनावकी स्वतंत्रता प्राप्त है- किंतु इसके सारे परिणामोंके साथ। यदि कोई भला चुने, तो यह अच्छी बात है, किंतु यदि कोई बुरा चुने; तो फिर जो होना है वह होता है- वही हुआ है!

इस कहानीको अत्यधिक गुह्य और आध्यात्मिक अर्थमें समझा जा सकता है। किंतु विश्वकी सभी गाथाओंकी तरह यदि कोई इसे इस प्रकार कहना चाहे जिसमें लोग इसे समझ सकें, तो वह बच्चोंकी कहानी बन जाती है। यह बच्चोंकी एक छोटी कहानी-सी लगनेवाली बात, जो मैंने तुमसे कही, इस तरीकेसे भी, यदि तुम मेरी कही बातोंको और उसके अर्थको समझ जाओ, तो तुम्हें वस्तुओंका रहस्य प्राप्त हो जायगा।

कई परम्पराएं बतलाती हैं कि यह एक "आकस्मिक घटना" थी, इस अर्थमें, कि इससे कुछ दूसरी तरहकी बात भी हो सकती थी। किंतु हुआ ऐसा ही। यह सच है कि यह इसी प्रकार हुआ। हां, तब यह खूब समझमें आनेवाली बात है कि ये प्रत्येक अंशक, जिनका मूल परमोच्च सत्ता थी, उस क्षण आदि विभूति, आदि स्रोतसे एकदम निकट रहनेके कारण, अवश्य ही अपने अंदर अपनी दिव्यता और श्रेष्ठताकी चेतना धारण किये थे, क्योंकि यह कोई ऐसी सृष्टि नहीं है जो भगवान्‌से भिन्न किसी वस्तुसे निर्मित हुई: यह तो बस भगवान् ही हैं जिन्होंने अपने आपको अपनेसे बाहर निकाला है, मानो वे अपने आपको देख रहे हों- उन्होंने अपने आपको अपनेसे बाहर निकाला है, मानो वे अपने आपको देख रहे हों- उन्होंने अपने आपको दृश्य वस्तु बनाया, जिससे वे जो कुछ हैं, उस सब कुछको जान सकें; एक स्थितिशील आंतरिक एकाग्रतामें निवास करनेकी जगह, जहां सब कुछ अनभिव्यक्त है, वे उसे "देखनेके लिये" बाहर निकालते हैं, मानो उनके अंदर जो सारी वस्तुएं हैं, अर्थात् अनन्त संभावनाओंको वे देखना चाहते हों। अतः, सब कुछ संभव है। यह हुआ इस प्रकार- यह कुछ और तरीकेसे भी हो सकता था। इसके अतिरिक्त, ऐसा कुछ भी नहीं जो यह बतलावे, कि हमारा विश्व जैसा है, उसके साथ-साथ अन्य विश्व नहीं हैं, जो इतने भिन्न हैं, कि एक विश्वका दूसरे विश्वके साथ कोई संबंध न हो सके। यह खूब संभव है कि हमारा विश्व ही भगवान्‌का एक मात्र बाह्य प्रक्षिप्त रूप न हो। हमारा विश्व, जैसा वह है, उसे हम जानते हैं; दूसरे विश्व भी हो सकते हैं, जो इससे बहुत कम शोचनीय अवस्थामें हों! इसके अतिरिक्त, हमारा विश्व भी केवल ऊपरसे देखनेमें शोचनीय है। यदि कोई इसके बाहरी रूपके पीछे जाय, तो वह देखेगा कि यह बिलकुल ही शोचनीय नहीं है। यह केवल देखनेका एक तरीका है।

प्र० भगवान्‌के ये अदृश्य शत्रु ('मातृवाणी' पुस्तकमें चर्चित) कौन हैं?

उ०- ये वही चार सत्ताएं हैं, जिन्होंने स्वभावतः अन-गिनत विभूतियां बनायीं, और इन बच्चोंने रचनाएं बनायीं। इस प्रकार इनकी संख्या लाखों-करोड़ों है, और इनके बीचही वे हैं, जिन्होंने कुछ विशेष स्वभाव पकड़ लिया है और इस स्वभावको बनाये रखनेका तर्क भी इनके पास है, और ये अपने नियमके अतिरिक्त किसी औरका शासन न होनेका अपना संकल्प भी बनाये हुए हैं। इन्हेंही भारतमें असुर कहते हैं, ये अंधकारकी सत्ताएं हैं। ये ऐसी हैं, यह भी तर्कपर आश्रित है। इन्होंने आरम्भसेही कुटिल मार्ग पकड़ा और उसीपर चली जा रही हैं। हां, अब इनमेंसे कुछ अपना मत बदल रही हैं। किंतु इनकी चर्चा गीतामें भी है; मेरा ख्याल है कि ऐसी सत्ताओंकी बात कही गई है जो बदल

जायंगी, और फिर ऐसोंको भी जो बदलना बिलकुल नहीं चाहतीं, जो बदलना न चाहकर, मिट जाना, नष्ट हो जाना ही पसंद करती हैं, कुछ एक तरहकी हैं, कुछ अन्य दूसरी तरहकी।

प्रश्न– वे ' दूसरी तरहकी ' जो बदल गयीं, वे कौन हैं ?

उत्तर– उनमेंसे एक बदल गयी है और यहांतक, कि सहयोग भी देती है, वह है चेतना और ज्योतिकी सत्ता।

प्रश्न– यदि वह बदल गयी है, तो कठिनाईको अपने आप दूर हो जाना चाहिए।

उत्तर– स्पष्टही, और उसकी शक्ति बनी हुई है। वह एक दुर्दर्ष सत्ता बन गयी है।

प्रश्न– आपने कहा कि चेतना अचेतनामें बदल गयी थी। किंतु चेतनाके बदल जानेपर अचेतना दूर हो जानी चाहिए ?

उत्तर– वह पुनः चेतना और ज्योति बन जाती है– वह जो थी वही फिर हो जाती है।

प्रश्न– तो क्या वह फिरसे वैसा हुई नहीं ?

उत्तर– किंतु अभी मिनिट भर पहले मैंने कहा न, कि जब वह निश्चेतना या अंधकार बन गयी तब उसने अनगिनत रचनाएं निर्मित कीं– विभूतियां, रचनाएं, कृतियां। और उसके परिवर्तनका यह अर्थ नहीं निकलता कि बाकी सारी भी वही करें। वे स्वतंत्रताके उसी नियमका पालन करती हैं– चुनावकी स्वतंत्रताका वे बदल भी सकती हैं और नहीं भी। उनमेंसे कुछ बदल गयी हैं, कुछ बदलनेसे इनकार करती हैं। और मेरा खयाल है कि वास्तवमें ऐसी इनकार करनेवाली बहुत अधिक हैं।

किंतु इनमेंसे सबसे अधिक हानिकर है ' मिथ्यात्वका प्रभु ' वही, सत्यका सतत नकारही वस्तुतः विश्वमें सबसे बडी बाधा है। और पार्थिव जगतपर, भौतिक जगत्पर इसकी पकड बडी मजबूत है। इसके अतिरिक्त, यहां (पृथ्वीपर) जो लोग उसे देखते हैं, वे उसे एक बिलकुल अद्भुत भव्य सत्ताके रूपमें देखते हैं। वह अपनेको ' राष्ट्रोंका प्रभु ' कहता है, और वह देखनेमें दुर्धर्ष, दीप्तिमान सशक्त और बडाही प्रभाववान् प्रतीत होता है... । ऐतिहासिक दृष्टिसे वह राज्योंके कई प्रमुखोंका प्रेरक रहा है, और वह अपनेको ' राष्ट्रोंका प्रभु ' इसलिये घोषित करता है, क्योंकि यह वही है जो राष्ट्रोंकी जनतापर शासन 'करता है। स्वभावतः, पिछले दो युद्धोंका मूल स्रोत, परम संगठनकर्ता वही रहा है। इसी अवसरपर इसने अपनेको राष्ट्रोंके प्रभुके रूपमें अभिव्यक्त किया। और इसके अतिरिक्त उसने एलान किया कि वह कभी भी परिवर्तित नहीं होगा। और वह जानता है कि उसका अंत होगा– स्वभावतः, वह चेष्टा करेगा कि वह यथासंभव देरसे हो। और उसने यह घोषित किया है कि अपने नष्ट होनेके पहले वह जो कुछ भी नष्ट कर सकेगा, उसे नष्ट कर देगा... । हम सब प्रकारकी विपत्तियोंके आनेकी आशा कर सकते हैं।

आपने फरवरी (२१-२-'५३)में एक संदेश दिया था, जिसमें कहा गया था, ' एक नयी ज्योति पृथ्वीपर उतर पडेगी ' (वस्तुतः वह संदेश था ' ' सत्यका प्रकाश आजसे सदाके लिये पृथ्वीपर उदित हो '), और उसके ठीक बाद (५-३-'५३) स्तालिनकी मृत्यु हो गयी। क्या यह किसी रहस्यका द्योतक है ?

उत्तर– यह तो वस्तुतः एक छोटा-सा परिणाम होगा स्तालिनकी मृत्यु (दुर्भाग्यवश हिटलरकी मृत्युसे अधिक नहीं) ने वर्तमान जगत्की स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं लाया है। इससे कुछ अधिककी आवश्यकता पडेगी। क्योंकि यह तो फांसीपर चढनेवाले हत्यारे जैसा हुआ। जब उसका सिर काटा जाता है, उस क्षण उसका प्रेत रह जाता है और उससे बाहर निकल आता है। वह एक प्राणिक रचना है, और किसी शुभचिंतक दर्शकके भीतर आश्रय ले लेता है, जो एकाएक अपराध करनेकी प्रवृत्तिका बोध करने लगता है। ऐसे बहुतसे लोग हैं, विशेषतः बहुत कच्ची उम्रके अपराधी, जिन्होंने पूछनेपर यह स्वीकार किया। उनसे पूछा गया। ' तुम्हारे अंदर हत्याकी भावना कब जगी ? ' और उत्तर प्रायशः यह होता है। ' इसने मुझे तब पकडा जब मैंने अमुक व्यक्तिको फांसीपर चढते देखा। '

सो, इसकी या उसकी मृत्युसे कोई काम नहीं बनता। इससे कोई बडा कार्य नहीं सिद्ध होता। वह केवल एक बाहरी रूप है। यह ऐसा है मानो तुमने एक कमीज पहनकर कोई बडा बुरा कर्म किया और तब तुम उसी कमीजको उतार फेंकते हो और कहते हो। ' अब मैं कोई कुकर्म नहीं करूंगा। ' और तुम एक दूसरी कमीज पहनकर अपना काम जारी रखते हो ?

प्रश्न– यदि जीवन मृत्युमें परिवर्तित हो गया, तो वह स्वयं क्यों नहीं मर जाता ?

उत्तर– क्योंकि वह बडा सावधान रहता है। तुमने जो कहा वह बहुत ही ठीक है, किंतु वह बडी सावधानी बरतता है जिसमें वह पृथ्वीपर जन्म न ले। और प्राण-जगत्में मृत्यु नहीं है, वहां उसका अस्तित्व नहीं है। मृत्युका अस्तित्व

भौतिक जगत्में ही है, और वह यहां जन्म न लेनेके लिये बडी सावधानी बरतता है।

प्रश्न– क्या स्तालिनको यही होना था, जो वह हुआ ?

उत्तर– स्तालिन ? मुझे इस बातका पूरा निश्चय नहीं कि वह मनुष्य था... इस अर्थमें, कि मेरा ख्याल है कि उसमें आंतरात्मिक सत्ता नहीं थी। अथवा हो सकता है कि उसमें रही भी हो– सारे जड तत्त्वमें, प्रत्येक अणुमें एक भागवत केन्द्र है– किंतु मेरा मतलब एक गठित, व्यक्तिगत रूप लिये आंतरात्मिक सत्तासे है। मेरा ख्याल है कि वह वहां नहीं थी। मेरा विश्वास है कि वह प्राण जगत्की किसी सत्ताका प्रत्यक्ष अवतार था। और उसमें तथा हिटलरमें यही बडा अंतर था। हिटलर महज एक मनुष्य था, और मनुष्यकी दृष्टिसे, उसका मस्तिष्क बडा दुर्बल, नाजुक था– उसकी चेतना एक क्षुद्र कामगर जैसी थी (कोई कोई कहते हैं कि एक क्षुद्र चमार जैसी), अंततः एक क्षुद्र कामगर जैसी या किसी पाठशालाके एक छोटेसे अध्यापक जैसी, ऐसी ही किसी वस्तु–सी एक अत्यंत छोटी चेतना और अत्यंत नाजुक, जिसे फ्रांसिसीमें 'फ्लर ब्ल' (नीला फूल) कहते हैं, बडा ही दुर्बल।

किंतु वह पिशाच–ग्रस्त था। उसका आचरण अत्यंत सामान्य कोटिका था, अत्यंत सामान्य कोटिका। वह एक माध्यम था, बहुत अच्छा माध्यम था– इसके अतिरिक्त प्रेत बुलानेवाली गोष्ठियोंमें ही वह (पैशाचिक सत्ता) उसपर हावी हो जाती थी। इसी क्षण उसपर वे दौरे आते थे, जिसे लोग मिरगी कहते हैं। वे मिरगीके दौरे नहीं थे। वे पिशाच–ग्रस्तताके दौरे थे। इसी तरहसे प्राप्त उसके पास एक शक्ति थी, जो कोई बहुत बडी शक्ति भी नहीं थी। किंतु जब वह उस शक्तिसे कोई बात जानना चाहता था, तब वह अपने महलमें चला जाता था, और वहां 'ध्यान' में वह बडी तीव्रतासे उसे पुकारता था, जिसे वह अपना भगवान्, अपना परमेश्वर कहता था, जो 'राष्ट्रोंका प्रभु' था। और तब उसे सब कुछ बडा भव्य प्रतीत होने लगता था। वह एक सत्ता थी... वह छोटा–सा था– वह उसके सामने चांदीका पूरा कवच पहने, चांदीका शिरस्त्राण और सोनेकी कलगी लगाये प्रकट होता था। वह 'भव्य' था ! और उसमेंसे एक ऐसा चुंधिया देनेवाला प्रकाश निकलता था, कि आंखोंके लिये उसे देखना और सहना बडा कठिन होता था। स्वभावतः, वह भौतिक रूपमें नहीं प्रकट होता था, हिटलर माध्यम था और उसे देखता था। उसमें एक प्रकारकी परोक्ष दर्शनकी शक्ति थी। और इन्हीं क्षणोंमें उसे दौरे आया करते थे। वह जमीनपर लोटने लगता था, उसकी लार टपकने लगती थी, वह फर्शी कालीनोंको दांतसे काटने लगता था, उस समय उसकी अवस्था बडी भयंकर हो जाती थी। उसके पास रहनेवाले यह जानते थे। वही है 'राष्ट्रोंका प्रभु।' और वह राष्ट्रोंका प्रभु अपने मूल रूपमें भी नहीं है, वह उसकी एक विभूति है, एक बडी शक्तिशाली विभूति।

प्रश्न– यदि वह लुप्त हो जाना स्वीकार कर ले, तो क्या वह भगवान्‌के लिये एक शक्तिका खो देना होगा ?

उत्तर– क्या कहा तुमने ? कहां लुप्त हो जाना ? लुप्त हो जाना तुम किसे कहते हो ? कहां लुप्त होजाना ? तुम्हें रावणकी कथा मालूम है ? रावणने क्या चुना था ? जानते हो तुम ? सो, इसीको लुप्त हो जाना स्वीकार करना कहते हैं। अर्थात् उसका कोई व्यक्तित्व नहीं रह गया।

प्रश्न– मृत्युके बाद रावणका क्या हुआ, यह तो कहानीमें नहीं कहा गया है।

उत्तर– यह नहीं कहा गया है ? मुझे तो यह कहा गया है। कहा गया है कि रावणने सर्वोच्च सत्तामें विलीन हो जाना चुना, और वह उसमें पूर्णतः घुल–मिल गया, वह कोई पृथक् सत्ता नहीं रह गया, वह आदि स्रोतमें लौट गया, वह सर्वोच्च सत्तामें विलीन हो गया। और उसे करनेके पहले ही उसने यह भूमिका चुनी थी, विरोधीकी भूमिका, क्योंकि यह भक्तोंकी ओर, जो आज्ञाकारी हैं उनकी राहसे बहुत अधिक छोटा है। उस राहसे बहुत अधिक तेजीसे आया जा सकता है, क्योंकि एक दिन भगवान् निर्णय ले लेते हैं कि अब काफी हो चुका और बस, वे उन्हें नष्ट कर देते हैं। वह भगवान्‌के बाहर नहीं जा सकता, क्योंकि सब कुछ भगवान् ही है ! वह अपना व्यक्तित्व खो दे सकता है, अर्थात् परमोच्च सत्तामें विलीन हो जा सकता है, उसमें घुल–मिल जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु लुप्त नहीं हो जाती, लुप्त होता है रूप, किंतु जिन तत्त्वोंसे उसका (रूपका) निर्माण हुआ होता है, वे बने रहते हैं। सब कुछ शाश्वत है, क्योंकि सब कुछ भगवान् है और कोई भी वस्तु भगवान्से बाहर नहीं जा सकती, क्योंकि सब कुछ भगवान् है। किंतु रूप लुप्त हो जाते हैं। रूपके साथ इस तादात्म्यके कारण ही किसीको मृत्युका आभास होता है; किंतु संघटक तत्त्व सनातन हैं, क्योंकि सब कुछ सनातन है।

जो, इनमेंसे कुछ सत्ताएं, इस प्रकार पूर्ण रूपसे अनन्तमें, एकत्वमें विलीन हो जाना, उसमें पूर्णतः घुल-मिल जाना पसंद करती हैं (अर्थात् वे अपनी वैयक्तिक चेतना खो देना चाहती हैं, उनकी वैयक्तिक चेतना नहीं रह जाती, वैयक्तिक चेतनाके रूपमें उनका अस्तित्व नहीं रह जाता), वे उस वैयक्तिक चेतनाकी अपेक्षा, जो अपने आपको भगवान्‌को समर्पित कर देती है, और इस क्रिया द्वारा अमर हो जाती है, यही अधिक पसंद करती हैं। परिवर्तनकी अपेक्षा, वैयक्तिक विनष्टि और विलोपन उन्हें अधिक भाता है।

प्रश्न- क्यों ?

उत्तर- मेरा अनुमान है, कि अहंकारवश। यह सब अहंकार ही है। वस्तुतः आरंभसे ही, यह सारा अहंकार है किंतु प्रायः सभीधर्मोंने यह कहा है। यह अहंकार है, अर्थात् अपनी शक्ति और महत्त्वकी एक प्रकारकी चेतना।

प्रश्न- आपने कहा, कि ये चारों विभूतियां सर्वोच्च सत्ताकी विभूतियां थीं, तब इनमें उनकी चेतनासे भिन्न कोई दूसरी चेतना कैसे हो सकती है ?

उत्तर- दूसरी चेतना ? किंतु कोई दूसरी चेतना तो है ही नहीं। विभूतिका सिद्धांत ही यह है, कि यह विभूति अपने बनानेवालेके एक अंशका बाह्यकरण है, जो संभाव्य रूपमें अपने भीतर अपने निर्माताके गुणोंको बनाये रखती है। किंतु यदि ये विभूतियां चुनावकी स्वतंत्रताके संकल्पके साथ निर्मित हुई हों (जैसे कि उनका निर्माण हुआ था), तो जैसा कि मैंने कहा, ये विभूतियां चाहे तो उस स्वाधीनता और उस स्वतंत्रताका अनुसरण कर सकती हैं, अथवा अपने निर्माताके साथ संबंध बनाये रख सकती हैं, क्योंकि यही चुनावकी स्वतंत्रता है। यह बल और शक्ति जो उनके भीतर होती है, वह उन्हें अपने महत्त्व और बलका आभास देनेके लिये बिलकुल पर्याप्त होती हैं। यदि वे यह चुनें, कि वे परमोच्च सत्ताके साथ स्वेच्छित संबंध, शरणागतिका संबंध नहीं रखेंगी, यदि वे यह चुनें कि वे अपने भीतरके बल और चेतना और शक्ति द्वारा स्वतंत्र रूपसे, जो कुछ उन्हें करना है, उसे करेंगी, तो इस तथ्य द्वारा ही वे अपने मूल स्रोतसे अपनेको काट लेती हैं- किंतु इस प्रकार मूल स्रोतसे कट जानेपर भी, जिन तत्त्वोंसे उनका निर्माण हुआ है, वे तो मूल स्रोतके तत्त्व ही हैं। और इसीलिये, यदि वे स्वेच्छासे भी अपना संबंध काट लेती हैं, तो भी, चेतनाकी बिलकुल गहराईमें एक ऐसी कड़ी बनी रहती है जो कभी टूट नहीं सकती। यह है तादात्म्यकी कड़ी। किंतु बाह्य अभिव्यक्तिमें, क्योंकि वे चुनावकी स्वतंत्रताके मूलभूत गुणके साथ निष्क्रांत हुई थीं, वे यह अथवा वह करनेके चुनावमें स्वतंत्र हैं। इसीलिये बुरेसे बुरे अपराधीमें भी, कहीं, उसके भीतर भागवत ज्योति वर्तमान होती है।

दैवत-संहिता

सम्पादक— म. म. पं. श्री. दा. सातवलेकर

वेदोंमें पूजक ऋषियोंकी अपेक्षा पूजनीय देवोंकी प्रधानता है। क्योंकि उपासककी अपेक्षा उपास्यकी मुख्यता सर्वत्र होती है। उपासक उपास्यके गुणोंको अपने अन्दर लाकर तद्वत् बनना चाहता है। वेदोंमें भी ऋषि उपासक हैं और देवता उपास्य। ऋषिगण अल्पगुणान्वित हैं और देवता सर्वगुणान्वित। ऋषिगण देवताओंके गुण अपने अन्दर धारण करना चाहते हैं और देवसदृश बनना चाहते हैं। इस प्रकार देवोंका स्थान मुख्य है।

ये देवता संस्थामें अनेक हैं, पर उनके मन्त्र चारों वेदोंमें बिखरे पडे हैं। अग्निके कुछ मन्त्र ऋग्वेदके १ मण्डलके १ सूक्तमें आए हैं, तो कुछ मन्त्र उसके २४ वें सूक्तमें आए हैं। इसी प्रकार इन्द्रादि देवोंके मन्त्रोंकी भी अवस्था है।

इस संहितामें देवताओंके अनुसार चारों वेदोंका मन्त्रसंग्रह है। इन्द्रके चारों वेदोंमें जितने मन्त्र आए हैं, उन सबका एक जगह संग्रह कर दिया है। इसी प्रकार अन्य देवोंका भी किया है। इससे वेदका अध्ययन करनेवालोंको बडी सुविधा होगी। उन्हें चारों वेदोंको खरीदनेकी कोई आवश्यकता नहीं। १७ पृष्ठोंमें उत्कृष्ट भूमिका युक्त आकर्षक छपाई, आकर्षक जिल्द। डबलक्राउन ८ पेजी साइज, भूमिका १७ पृष्ठ, १०४८ पृष्ठ मूल्य ३०) (डा. व्य. पृथक्)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो. 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी, [जि. बलसाड]

लेखक : श्री श्रीराम माधव चिंगले, एम. ए.

छत्रपति श्री शिवाजी महाराजके पूर्णतया सफल जीवनमें ऋतसत्यका महत्त्व

यतो धर्मस्ततो जयः

आजसे तीनसौ वर्ष पूर्व श्री शिवाजी महाराजका राज्याभिषेक समारोह संपन्न हुआ था। उस महान् पर्वका त्रिशताब्दि महोत्सव वर्ष आज मनाया जा रहा है। सौभाग्यसे इसकी पार्श्वभूमि भी बहुत ही सुंदर मिली है। स्वनामधन्य राणाप्रतापके द्वारा पावन की हुई राजस्थानकी भूमिमें भारतने रचनात्मक कार्यके हेतु अणुविस्फोटका सफल प्रयोग करके अणुशक्तिधारी शक्तिशाली राष्ट्रोंकी पंक्तिमें स्थान प्राप्त किया है। निस्संदेह यह भारतके लिये गौरवास्पद बात है। छत्रपति श्री शिवाजी महाराजने जिस हिंदवी स्वराज्यका स्वप्न देखा था और छोटे परिमाण पर उसे साकार भी कर दिखाया था, उन्हींकी अखंड प्रेरणासे वह पूर्णतया साकार हुआ है। उन्हींके कंधों पर खडे रह कर हम यह कर सके हैं। अतएव उनके प्रति कृतज्ञता बुद्धिरखना और उनके सफल जीवनका रहस्य समझ कर उनके द्वारा प्रस्थापित आदर्शोंके अनुसार आचरण करना हमारा कर्तव्य है।

पुण्यश्लोक श्री शिवाजी महाराजका नाम भारतके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जानेके योग्य है। अत्यंत विपरीत परिस्थितिमें भी उन्होंने प्रबल तथा प्रचंड स्वविरोधी शक्तियोंपर मात करके भारतीय स्वराज्य और सुराज्यका सूत्रपात किया। उनका जीवन विराट् पुरुषके समान अगणित पहलुओंसे युक्त है। प्रस्तुत स्थळमें हम इनमेंसे एकही महत्त्वपूर्ण पहलूपर प्रकाश डालना चाहते हैं। वह है उनके सर्वथैव सफल जीवनका रहस्य। इतिहासकारोंकी बहिर्दृष्टिमें उनकी सफलताके तथा उनके विरोधियोंकी असफलताके बाह्यपरिस्थिति मूलक अनेक कारण कहे जाते हैं। किन्तु अध्यात्मशास्त्रकी यथार्थ दृष्टिसे इसका मुख्य कारण है उनके जीवनमें ओतप्रोत रूपसे पाया जाने वाला ऋतसत्यका अधिष्ठान, तथा उनके विरोधियोंमें पाया जानेवाला इसका अभाव। प्रचलित इतिहास लेखनकी मर्यादामें ऐतिहासिक महापुरुषोंके जयपराजयकी मीमांसा बहुतही अपूर्ण तथा छिछली होती है। अधिकतर स्थूल दृष्टिके द्वारा बाह्य घटनाओंके आधार पर ही इसका विचार किया जाता है। उसमें ऐतिहासिक महापुरुषोंकी आंतरिक अवस्था पर ध्यान नहीं दिया जाता। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे यह आंतरिक अवस्था ही महत्त्वपूर्ण होती है। इनकी जयपराजयका सच्चा रहस्य इसीमें पाया जा सकता है क्योंकि बाह्य परिस्थिति इनकी आंतरिक अवस्थाके अनुसार ही प्राप्त होती है। जय पराजयके सच्चे कारण अंदरही पाये जाते हैं। बाहर उनके दृष्टफल ही देखनेको मिलते हैं। इस संबंधमें मुख्य सूत्र है ऋत सत्यका अधिष्ठान या उसका अभाव। जितने अंशमें जानते या अजानते इसका पालन या उल्लंघन किया जाता है उतने ही अंशमें जय या पराजय पल्ले पडती है। इस मानदंडको लेकर हम श्री शिवाजी महाराजके, उनके विरोधियोंके, तथा विश्वेतिहासके अन्य महापुरुषोंके चरित्रोंको परख सकते हैं।

हम देखते हैं कि इनमेंसे कुछ लोगोंको पहले अल्प साधनोंको लेकरही, बाह्य परिस्थितिके सर्वथैव विपरीत तथा अननुकूल होते हुए भी, विजय पर विजय मिलती चली गई। किन्तु आगे चलकर अनुकूल परिस्थिति और विपुल साधनोंके उपलब्ध होते हुए भी इनके पल्ले पराजय

पड़कर इनकी दुर्गति हुई। इसका क्या कारण है? क्या निरी बाह्य परिस्थिति इसका समाधानकारक उत्तर दे सकती है? भारतका अध्यात्मशास्त्र डंकेकी चोट पर कहता है– नहीं, कदापि नहीं क्योंकि 'सत्यमेव जयते नानृतम्' यह मनुष्य जीवनका या कहिये कि विश्व जीवनकाही शाश्वत, त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है। ऋतसत्य साक्षात् परब्रह्म स्वरूप है 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म।' 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति।' आध्यात्मिक दृष्टिसे बाह्य परिस्थिति संबंधित व्यक्तियोंकी आंतरिक अवस्थाकीही प्रतिकृति होती है। इन लोगोंके जीवनमें जब तक और जितने अंशमें ऋतसत्यका अधिष्ठान अचल था, तब तक उन्हें उतनेही अंशमें सफलता मिली। किन्तु जब वे उससे विचलित हुए और उनका आध्यात्मिक दृष्टिसे अधःपतन हुआ, तब बाह्यतः भी इनकी दुर्गति होते देर न लगी। अब हम इस तथ्यको इन लोगोंके जीवनमें परख लें।

श्री शिवाजी महाराजका ध्येय अत्यंत शुद्ध था। विदेशी तथा धर्मांध विधर्मी शासकोंने भारतीय धर्म तथा संस्कृति समूल नष्ट करनेकी ठान ली थी। यह देखकर बाल्यकालमेंही शिवाजीने श्री रोहिरेश्वर महादेवजीके सामने धर्मरक्षा तथा गोब्राह्मण प्रतिपालनार्थ अपने कुछ चुने हुए साथियोंके सहित स्वराज्य स्थापन करनेकी शपथ ग्रहण की। इस विषयमें उनके सामने भारतीय संस्कृतिके आकर ग्रंथ रामायण–महाभारतके आदर्श थे। अपनी इस प्रतिज्ञापूर्तिके लिये उन्होंने मावला लोगों जैसे सर्वसाधारण लोगोंमें जागृति निर्माण करके उनकी महत्त्वाकांक्षाको जगाया और स्वधर्मकी रक्षा तथा स्वराज्यकी प्राप्तिके लिये सर्वस्वका त्याग करनेके लिये कटिबद्ध किया। श्री शिवछत्रपतिके इस ध्येयमें अहंकार मूलक स्वार्थकी गंध भी नहीं थी। इसीलिये उन्हें हथेलीपर प्राण लेकर लड़नेवाले और अपने सर्वस्वकी आहुति देनेवाले साथी मिले। इसीलिये वे सामान्य जनोंमेंसे असामान्य वीर निर्माण कर सके।

ओतप्रोत धर्म निष्ठा श्री शिवाजीके जीवनका स्वरूप लक्षण था। क्या अपने वैयक्तिक जीवनमें, क्या सामाजिक जीवनमें, और क्या राजकीय जीवनमें वे सोलहो आना धर्मभावनासे प्रेरित थे। वे गोब्राह्मण प्रतिपालक थे, महान् ईश्वरभक्त थे, जातिधर्म निरपेक्ष साधुसंतोंके और जनता जनार्दनके सेवक थे। राजकीय जीवनमें उन्हें अवसर आनेपर चाणक्यनीतिका अवलंब करना पड़ा। किन्तु यह भी उन्होंने आत्म रक्षा तथा देश और धर्मकी रक्षाके लिये ही किया। इसका समर्थन मन्वादि स्मृतियों तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र प्रभृत ग्रंथोंमें पूर्णरूपेण पाया जाता है। व्यवहार-चार्य शास्त्रकारोंने आततायीको मारना ही धर्म बतलाया है। आततायीके लक्षण और उसको मारनेकी स्पष्ट अनुज्ञा निम्न श्लोकोंमें दी गई है:—

> अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
> क्षेत्रदार हरश्चैतान् षड्विद्यादाततायिनः॥
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
> नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

छः प्रकारके आततायी होते हैं:– (१) आग लगानेवाला (२) विष देनेवाला (३) उन्मत्त शस्त्रधारी (४) दूसरोंका धन (५) खेत जमीन तथा (६) स्त्रियोंका अपहरण करनेवाला। आततायीको आते देखकर निस्संकोच भावसे मारना चाहिये। आततायीके वधके कारण कोई दोष नहीं लगता।

श्री शिवाजीके कालमें शासनकी आततायी वृत्ति और अत्याचार चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। प्रजामें त्राहि त्राहि मच रही थी। शिवाजीने इसका सफल प्रतिकार करके अधर्म नहीं, महान् धर्मकार्य ही किया। शिवाजीके विरोधी छल, छिद्र, कपट, धर्मद्वेष, प्रजापीडन इत्यादि सभी प्रकारकी आसुरी वृत्तिसे ग्रस्त थे। उनके जीवनमें ऋत सत्यका पूर्णतया अभाव था। कोई आश्चर्य नहीं कि ऋत-सत्यके अधिष्ठानसे संपन्न शिवाजीके हाथों उन्हें पराजय स्वीकार करना पड़े।

श्री शिवाजीका जीवन पूर्णतया धर्ममय था। उन्होंने धर्म तथा धर्मयुद्धमें अपने शत्रुओंका पराजय करने पर भी उनकी सुंदर युवती स्त्रियोंको 'परतिय मात समान' समझा और उन्हें आदरपूर्वक उनके संबंधियोंके पास पहुँचा दिया। अपने राज्यमें किसी भी तरहका अनैतिक आचरण वे सहन नहीं कर सकते थे। इस प्रकारके प्रमादके लिये कठोर दण्ड दिया जाता था। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस न्यायसे शासनाधिकारी तथा प्रजा सभी नीतिमान थे। प्रजापालनमें भी वे उतनेही दक्ष थे। अपनी प्रजाको किसी भी तरहका कष्ट न हो और वह सभी तरहसे सुखी रहे इस बातका वे पूरा ध्यान रखते थे। उनकी संपूर्ण राज्यव्यवस्था प्रजाके हितकी दृष्टिमें रखकरही की गई थी। इसलिये वह आदर्श थी। रामराज्यके आदर्शको सामने रखकरही वे सारे व्यवहार करते थे। आजकलके शासक इस बातसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

श्री शिवाजीने अपना राज्याभिषेक कराया वह भी व्यक्तिगत स्वार्थके लिये नहीं किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोणको लेकरही कराया था। राज्याभिषेकसे पहले अनेक सरदार जागीरदार इत्यादि उन्हें राजा माननेकोही तैयार नहीं थे।

पुनश्च, उस धर्मप्रधान कालमें यथाविधि किया हुआ धार्मिक संस्कार अत्यधिक महत्त्व रखता था। यादवोंकी सत्ताके अस्त होनेपर दीर्घ कालावधिके अनंतर हिंदू राज्यकी अभिषेकपूर्वक स्थापना हुई थी। इसका इष्ट प्रभाव हुआ। दिल्लीके शासकों पर भी इस कारण आतंक छा गया। अब निर्विरोध रूपसे राजा होनेका गौरव उन्हें प्राप्त हुआ। उन्होंने राज्याभिषेकके साथही हिंदू राज्यकी स्थापनाका एक महत्त्वपूर्ण निदर्शक–राज्याभिषेक शक प्रवर्तित किया। राजा होनेके सम्मानके साथही उन्होंने प्रजाके हितका दायित्व स्वीकार किया। प्रजाके सुखमें वे अपना सुख और प्रजाके हितमें अपना हित देखने लगे– ' प्रजा सुखे सुखं राज्ञः। प्रजानांच हिते हितम् ॥ ' उनकी राजमुद्रा पर निम्न श्लोक अंकित था:–

प्रतिपच्चन्द्र लेखेव वर्धिष्णुर्विश्ववन्दिता।
शाहसूनोः शिवस्यैषा मुद्रा भद्राय राजते॥

इस श्लोकमें उनका जीवनादर्श स्पष्टतया व्यक्त हुआ है।

श्री शिवाजीके विरोधकोंने भी उनके अलौकिक गुणोंकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है। आद्य मराठा इतिहासकार जेम्स ग्रँट डफ उनके प्रशंसक नहीं कहे जा सकते। फिर भी वे लिखते हैं–

' Sivajee was certainly a most extraordinary person; we view his talents with admiration, and his genius with wonder. '

अर्थ– निस्सन्देह शिवाजी श्रेष्ठकोटिके अलौकिक महापुरुष थे। हम उनके बुद्धि वैभव तथा बुद्धिकौशल्यको प्रशंसाकी दृष्टिसे देखते हैं और उनकी अलौकिक प्रतिभा तो हमें आश्चर्यचकित कर देती है।'

पाश्चात्य लेखकों द्वारा हम श्री शिवाजीकी तुलना विश्वेतिहासके महापुरुषोंके साथ की हुई पाते हैं। किन्तु हमारे नम्र मतसे इस तुलनामें श्री शिवाजीकी ही श्रेष्ठता सिद्ध होती है। प्राचीन यूनानके विजयी वीर सिकंदर महान्का उदाहरण लीजिये। वह एक श्रेष्ठ सेनानी तथा कुशल शासक था। किन्तु वह वैयक्तिक साहंकार महत्त्वाकांक्षासे प्रेरित था। वह अंततक विजयोन्मादका शिकार रहा। नैतिक दृष्टिसे भी उसका चरित्र शुद्ध नहीं था। एक पाश्चात्य लेखक द्वारा खींचा हुआ उसका शब्दचित्र निम्न प्रकारका है:—

' Great as were most of the actions of Alexander, he appears to have become intoxicated with success, and fell into habits of debanchery. In one of his drunken fits he set fire to and destroyed Persepolis at the bidding of one of his courtesans. (The new Encyclopaedia, Edited by N. C. O'Neill)

अर्थ:– " उसके अधिकतर कार्य श्रेष्ठ होनेपर भी वह विजयोन्मत्तसा था और व्यभिचारके दुर्व्यसनमें फँसा हुआ था। एक बार तो उसने अपनी एक रखेलीके कहनेसे पर्सेपॉलिसको आग लगाकर नष्ट कर दिया! "

ऐसे जीवनको किस प्रकार आदर्श माना जाय? इसे देखकर यही कहना पडता है कि कहाँ सिकन्दर और कहाँ प्रातःस्मरणीय शिवाजी!

हॅनिबाल प्राचीन कार्थेजका श्रेष्ठ सेनानी समझा जाता था। उसका भी जीवन आदर्श और स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता। उसने अनेक बार अपने शत्रुओंपर नेत्रदीपक विजय प्राप्त की। किन्तु अंतमें उसे अपने शत्रूओंसे बचनेके लिये आत्महत्या करनी पडी। क्या इसे मानवजीवनके आदर्शके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है? स्पष्ट ही इसका उत्तर नकारात्मक है।

फ्रांसके चक्रवर्ती सम्राट नेपोलियनका चित्र भी इससे भिन्न नहीं। प्रारंभमें उसे विपरीत परिस्थितिमें भी विजयश्रीने भूषित किया। किन्तु उसे अपने जीवनका अंतकाल सेंट हेलेनामें एक उपेक्षित कैदीके रूपमें बिताना पडा! यह है इस महापुरुषके जीवनकी शोककथा! यह किस प्रकार हमें अपना जीवन समुन्नत करनेके लिये स्फूर्ति और प्रेरणा दे सकती है?

इसके विपरीत ऋत सत्यपर पूर्ण रूपसे अधिष्ठित श्री शिवाजी महाराजका जीवन आज भी दीपस्तंभकी तरह पूर्णरूपसे प्रकाश प्रद और मार्गदर्शक है। उनके चरणोंमें शतशः प्रणाम।

नम्र निवेदन

'वैदिक धर्म' मासिकका वार्षिक मूल्य अबतक हमने अत्यंत अल्पही केवल ६ रु. ही रखा है, परन्तु सद्यः परिस्थितिके अत्यंत महंगाईके कारण— कागज, स्याही, वेतनके आदिके मूल्य अत्यंतही बढ गये हैं, इस कारण दिनांक १ अगस्त १९७४ से 'वैदिकधर्म' मासिकका मूल्य १० रुपया किया जाता है। कृपया आप इसपर ध्यान दें और आपका सहयोग सदैवके लिये देते रहे, यही प्रार्थना है।

—व्यवस्थापक
वैदिकधर्म
स्वाध्याय मंडल पारडी

×

लेखक : श्री भैरवदत्त शुक्ल

वेद-प्रवचन-माला—(१)

अग्ने नय सुपथा राये !

प्राक्कथन

यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायका ही 'ईशोपनिषद्' के नामसे भारतीय मुमुक्षु जनोंमें प्रचुर श्रद्धा संवलित प्रचार हैं। प्रायः उपनिषदोंके मर्म-तत्त्वकी उपेक्षा ही की गयी है जिसका प्रमुख कारण विविध ऐतिहासिक परिवेश- प्रसूत संप्रदायों एवम् निकायोंके प्रवर्त्तकों द्वारा खींच-तानके साथ औपनिषदिक मंत्रोंका मनमाना अर्थ करना और लोगोंमें इस अंध धारणाका बद्धमूल होना है कि उपनिषदोंमें घर-बारछोडकर बाबा बनते हुए भिक्षाके सम्बल पर जीवन-यापन करनेकाही प्रबल प्रतिपादन किया गया हैं।

वस्तुतः भारतीय जीवनके लिए श्रुति-स्मृति-समनुमोदित जिस वर्णाश्रम- पथका अनिवार्य ग्रहण करनेका आग्रह किया गया है, वह कर्मकी अविचल आधार-शिला पर विनिर्मित है और उसमें किसी प्रकारका खोखलापन नहीं है। यह तो हमारे विस्मरण एवम् दिग्भ्रमका ही कुफल है कि हमने शिव-तत्त्वोंकी उपेक्षा करके अविवेकाश्रित मिथ्या प्रगति- प्रक्रिया अपनाकर वास्तविकतासे मुँह मोडते हुए अपनी सत्तापर प्रश्न-चिह्न लगानेकी लत डाल ली है। विश्वका कोई भी राष्ट्र कर्म- पराङ्मुख होकर विकास नहीं कर सकता। भारतमें सदियों पूर्वसे ही कलह-कलुष, कुविचार- कर्दम और अज्ञान- अंधकारके भटकावमें भटकते हुए विनाश-विपथगामें प्रवाहित होनेकी परम्परा अपनायी गयी है जिसे हटानेवाले समाज-सुधारकों, सिद्धान्त- प्रवर्त्तकों एवं राष्ट्र- हितैषियोंके प्रयासों पर पानी फेर कर आज भी हम उन्मत्त सुरापी वत् डगमगाते- लडखडाते चल रहे हैं। हम जागते हुए भी बेहोश हैं, बढते हुए भी पीछे खिसक रहे हैं, उन्नति करते हुए भी पतनके कगार पर जा पहुँचे हैं। यदि इस विनाश- वेलामें हमारे नेत्र न खुले, हमने- श्रुति-दिव्यका आश्रय न लिया और कर्मपरक समन्वयके सूत्र जोडनेमें न जुटे तो हमारा सर्वनाश निश्चित है।

इसीलिए यह लिखनेके लिए विवश होना पड रहा है कि आधुनिक मत-वादोंकी बुनियाद पर बनेनश्वर सिद्धान्तोंकी ओर बेतहाशा दौडनेकी अपेक्षा हमें अपने वेद- विभवका परिचय प्राप्त करके, उसे जीवनकी ठोस व्यावहारिकता पर प्रतिष्ठित करना वांछित हो गया है। उल्लिखित यजुर्वेदका ही एक मंत्र है—

> अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
> विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
> युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते
> नम उक्तिं विधेम ॥ ४०।१६

जिसका सरल तात्पर्य यह है कि सबको आगे ले जानेवाले ज्ञान-रूप परमेश्वर। आप कृपा करके हमें विश्वविभव एवं मोक्ष पानेके हितार्थ उत्तम, धर्म- पूरित आप्त सुधियों द्वारा निवेशित पथसे चलनेके लिए प्रेरित करें। हे समग्र सुख- प्रदायक प्रभु! आप हमारे समस्त आचारों एवम् विचारोंसे पूर्ण रूपेण परिचित हैं। अतएव हमसे कुटिलता-परिपूर्ण पाप, दोष या बुराई दूर कर दें। आपके इस असीम कृपा-संवलित अनुग्रहके लिए हम आपके प्रति भूयशः विनम्रस्तुति समर्पित करते हैं।

(१) अग्ने- यहाँ 'अग्नि' सभीको अग्रसर करनेवाला प्रभु है। वह परमात्मा, नेता, गुरु, उपदेशक, सेनापति,

आत्मा- सभीके लिए व्यवहृत हुआ है। इस जीवनमें विभिन्न स्थितियाँ आती हैं। समस्त सृष्टिके कार्य-व्यापार आगे ही बढनेके लिए हैं। उनमें ज्ञान, बल, ग्रहण, प्रयोग आदि समस्त वृत्तियोंका समुच्चय होता है। जिस क्षेत्रके जिस विभागमें जैसी अग्रसर होनेकी अपेक्षा है, उसके लिए वैसे ही 'अग्नि' का होना अनिवार्य है। बिना 'अग्नि' या अग्रणीके न तो विद्याका विकास हो सकता है, न कृषि-कार्य सफलता प्राप्त कर सकते हैं, न देश-रक्षा सम्पादित की जा सकती है, न लोक-हित एवं परोपकारका प्रसार सम्भव है और न सांस्कृतिक आयोजनोंकी सुचारुता ही स्थिर रह सकती है। इन्द्रियोंके भी विविध कार्यों और विभागोंमें सु-संचालन, सन्तुलन और स्थायित्व उसी समय तक रहता है, जबतक आत्मा रूपी अग्रणी अपने गुरुतम दायित्वोंके पालनमें उद्यत् प्रतीत होता है। आत्माके खिसकते ही श्रोतेन्द्रिय कुछ भी सुननेसे इन्कार कर देती है, घ्राणेन्द्रिय सुंघना बन्द कर देती है, नेत्र खुले के खुले रहकर देखनेसे रहित हो जाते हैं और मनका मनन एवम् चित्तका चिन्तन ठप हो जाता है।

हमें इसी प्रकार जीवनके सभी क्षेत्रोंमें 'अग्रणी' की उपादेयता पहिचानते हुए सर्व प्रथम उसे प्रतिष्ठित करके, उसकी सामर्थ्यका सदुपयोग करना चाहिए। सच तो यह है कि मानव-जीवन जितना ही अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवशाली है, उतना ही उसका मार्ग अत्यन्त भयावह, कण्टक-पूरित और विषम है। तनिक भी असावधानी हुई नहीं कि पतनके गर्त्तमें लुढकना पडता है। पदे-पदे अवरोध मिलते हैं और क्षणे-क्षणे पथ-भ्रष्टता, विनाश एवं अधः पतन। किन्तु, इस भयंकरतासे त्रस्त होना कायरता है, कण्टकों या अवरोधोंकी कल्पना मात्रसे सिहर उठना अपने दायित्व भुलाकर विपत्तिकी गोदमें लुढक कर दुबकनेके समान आत्मघाती कदम है और पतनके भयसे रुक जाना ही मृत्यु है। कहा गया है—

गिरते हैं शह सवारही मैदाने जंगमें।
वे क्या गिरेंगे ? जो कि तिफलोंके बल चलें॥

हमें घुटनोंके बल नहीं चलना है। हमें तो 'शह सवार' बनना है। हम पर क्रोध हमला करता है, किया करे; हमें काम फुसलाता है, फुसलाया करे; हमारे मार्ग पर द्वेष खडा हो जाता है, खडा होता रहे; हम तो बढनेका व्रत ले चुके हैं। हमें इनकी क्या चिन्ता ?

यह भी सही है कि हम दीन और दुःखी हैं, अशक्त और असहाय हैं, अज्ञानी अविवेकी हैं, अंधकारमें भटक रहे हैं पर हमारा पथ-संचालक, सफल निदेशक 'अग्नि' या अग्रणी तो समृद्धिसे पूर्ण है, सर्व शक्तिशाली है, समस्त ज्ञान एवं विवेकका आगर है और सतत ज्योति स्वरूप है।

हम उसकी क्षमताके प्रति आश्वस्त हैं। तभी तो संसार रूपी अगम अथाह बहुत बडे सागरमें सन्तरण करनेके लिए उत्सुक अधीर बने हुए हैं। ईर्ष्या द्वेषरूपी मछलियाँ हमारा क्या कर लेंगी ? काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार जैसे नक्र घडियाल हमारा क्या बिगाड लेंगे ? चाहे जैसी लोल लहरें उठें, चाहे जैसे ज्वार-भाटे आयें और चाहे जितनी आँधियाँ उमडें; हम तो विपत्तियोंमें पलकर बढनेवाले वीर हैं।

जब उपर्युक्त अनुभूतियाँ हमारी शिरा शिरा, साँस-साँसमें बस जायेंगी, तभी हम अपने अग्रणीको संबोधित कर सकेंगे। यह सामर्थ्य मानवोंके हृदयमें तभी संचित हो सकती है जब कि वे अपने शरीरको अधम, अपवित्र और पीब-विष्ठाका घर न समझें। वह तो एक रथके समान है जिसका स्वामी आत्मा है, सारथी बुद्धि है और मन घोडोंके मुँहमें लगी लगामके समान है।

भगवान् यमने यह बात नचिकेतासे बतलायी है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

—कठोपनिषद् : ३।३

भला हम यह क्यों चाहने लगे कि अज्ञानी अपरिपक्व सारथीकी भाँति विषय-रस-लोलुपा बनकर बुद्धि हमारे शरीररूपी रथको कुमार्ग पर पहुँचाये या ठीक मार्गसे हटा दे। इसलिए हममें अपने अग्रणीसे यह निवेदन करनेकी सामर्थ्य होना वांछित है कि वह बुद्धिरूपी सारथीको शिव प्रेरणा प्रदान करके, हमारे शरीर-रथको गन्तव्य लक्ष्यतक पहुँच जानेमें सहायक बने। इसीलिये तो स्पष्ट किया गया है कि—

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये।
धिये पूषन्नयुज्महि॥ ऋग्वेद ६।५३।१

हे मार्गके प्रभु ! पथ प्रदर्शक ! पूषन् ! हम ऐश्वर्य उपलब्धिके लिए, मेधा बुद्धिके लिए, सत्वर तीव्रतासे ले जानेके लिए आपको स्वकीय पथ-प्रदर्शक नियुक्त करते हैं।

(२) अस्मान् राये सुपथा नय- हम मानव इस संसारमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टयकी पूर्तिके लक्ष्यके लिए जीवन धारण करते हैं। इहलौकिक जीवनके सर्वतो मुखी विकासके लिए धनकी महती अपेक्षा होती है। यही कारण है कि स्वार्थ एवं द्वेषसे रहित व्यापक धरातल पर अधिष्ठित धनकी प्रार्थनासे संबद्ध कई वैदिक स्थल मिलते हैं। एक स्थल पर घोषित किया गया है—

वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ यजुर्वेद २३।६५

हे प्रभु ! हम सार्वजनिक हितोन्मुख धन एवं ऐश्वर्योंके स्वामी या रखने वाले बनें।

यही नहीं—

अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥

यजुर्वेद ३।४३

हमारे गृहोंमें अन्नोंके कीलाल (बखार) लगे हुए हों। पर, चाहे जितना सार्वजनिक हित ध्यानमें रखा जाये, स्वार्थ एवम् द्वेषसे दूर रहनेका प्रयास किया जाये और धनके साधन- रूपको साध्य न बनाया जाये फिर भी कोरी धन एवम् ऐश्वर्य पर आधृत समृद्धि व्यक्ति, राष्ट्र, समाज एवम् विश्वको सन्तुष्ट नहीं कर सकती। यदि धनैश्वर्यका साहित्य हमें जीवनके आवश्यक उपादानोंसे वंचित रखकर पशु-कोटिमें समाविष्ट कर देता है तो केवल धनैश्वर्यका प्राचुर्य हमें विवेकभ्रष्ट, शोषक, विनाशकारी एवम् दुराचारी रूपमें परिवर्तित करके 'श्वापद' की स्थिति पर पहुँचा देता है। यह समृद्धिपूर्ण न होकर, आत्माके संस्पर्शसे वंचित रहती है। इसके ज्वलन्त उदाहरण रावण, कंस, हिटलर, मुसोलिनीके जीवन और फ्रांस, अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशोंकी परिस्थिति हैं।

इसीलिए हम केवल इहलौकिक उन्नति ही न चाहकर पारलौकिक उन्नतिके भी पानेके लिए लालायित हैं। हमें अभ्युदय एवम् निःश्रेयस्- दोनोंका समन्वय वांछित है। हमें भौतिक समृद्धिके साथ मोक्षकी स्थिति भी मिलनी चाहिए। क्योंकि मोक्ष-धाम सन्तोष प्रदान करता है, आत्माको आनन्दमय बनाता है—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधी-
न्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋग्वेद ९।११३।११

अर्थात् जिस लोकमें समस्त कोटियोंकी ऋद्धियां हैं, हर्ष है, हर्षप्रदायक संपदा- समुच्चय हैं, आह्लादकारी ऐश्वर्य भरे हुए हैं और जहाँ जीवात्माकी संपूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाया करती हैं, हे प्रभु ! तू मुझे वहाँ पहुँचाकर अमरता प्रदान कर दे ! हे दयालु ! तू द्रवित होकर आनन्द-वृष्टि कर दे।

परन्तु, हमारा समग्र ऐश्वर्य एवं मोक्ष-समन्वित रयि-पारावार जिस आधार-शिला पर ठहर कर किलके-पुलके, बहे-चले, ऊर्मिल-आन्दोलित हो; वह अन्यायके गारेसे न बनी हो, दंभके चूनेसे न पुती हो पापाचारिणी प्रवृत्तियोंकी ईंटोंसे युक्त न हो और ढोंग एवम् अंधविश्वासकी सीमेंटसे जोडी न गयी हो। सीधा तात्पर्य यही है कि हम व्यष्टिगत या समष्टिगत अभ्युदय एवम् निःश्रेयस्की प्राप्तिके लिए जो भी साधना करें, हमारे जितने भी श्रम-आश्रमके परिवेश हों; उन सबका मूलाधार सच्चाई निष्ठा एवम् न्याय हो। धर्मकी दृढता एवं सुमार्गकी उदारताके संबलपर ही कल्याण की किलकारी गूँजती है। ईमानदारीसे भरी कमाईपर ही जीवनकी इमारत सज-सँवर कर सदैवके लिए टिकी रह पाती है।

फिर भला, हम अपने अग्रणीसे कम काम और अधिक लाभकी याचना करनेकी भूल कैसे कर सकते हैं ? हमारी कामना तो यही होगी कि हे प्रभु ! हम धन कमाकर जीवनके सर्वोच्च सोपानोंपर पहुँच जायें किन्तु हमारा मार्ग धर्म और सच्चाईका हो। ऐसे ही हम मोक्षके आकाश-चुंबी शिखर पर आरोहण करें पर हमारे गलेमें दुलारे धर्मकी बलिष्ठ भुजाएँ अवश्य पडी हों।

वैदिक जीवन एवं संस्कृतिमें अलगाव, बिखराव और दुरावके लिए स्थान नहीं है। उसमें तो सामूहिकता, सार्वजनीनता समष्टि परक संचेतना काही प्राधान्य परिलक्षित होता है। इसीलिए विवेच्य मंत्रमें भी जब हम अग्रणीसे ऐश्वर्य और मोक्ष-प्राप्तिके लिए प्रार्थना करते हैं तो उसमें 'मैं' नहीं, 'हम' का बोल बाला होता है। यह सामूहिकता ही 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का प्रथम और महत्वपूर्ण उपादान है। कितना अच्छा भाव है।

हे प्रभु ! हमें ऐश्वर्य दीजिए !
हे प्रभु ! हमें मोक्षकी चरम सीमा पर ले जाइए !
किन्तु हे प्रभु ! हम सु-पथसे विचलित न हों !
ध्यान रहे हे प्रभु !, हमें धर्मका संबल मिलता रहे !

आपकी ऐसी कृपा हो हे प्रभु !, कि पूर्वजों, महापुरुषोंके व्यावहारिक सिद्धान्तों एवं संविधानोंका हमें बल मिले। इसमें कहीं भी 'मैं' नहीं। और जहाँ 'मैं' नहीं, वहाँ बिखराव नहीं हो सकता, भ्रष्टाचार नहीं पल सकता और ढोंग नहीं चल सकता।

(३) विश्वानि देव सवितर्दुरितानि विद्वान्– हमें ज्ञानकी उच्चतम चोटी पर पहुँचनेके लिए सर्वप्रथम शिक्षकके सामने अपनी समग्र अर्हताओंका परिचय देना पडता है। यदि हमने इण्टर किया है तो किस श्रेणीमें, किस वर्षमें, किस संस्थाके कौनसे केन्द्रसे और किस वर्गके किन विषयोंसे ? आदि प्रश्नोंके प्रामाणिक उत्तरोंके अनन्तरही हमारा बी. ए. में प्रवेश हो पाता है। यही स्थिति प्रसंग एवम् परिवेशके अनुसार, ज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमें कम या अधिक प्राप्त होती है।

एक औपनिषदिक प्रसंग है— एक बार देवर्षि नारदने महर्षि सनत्कुमारके समीप पहुँचकर ब्रह्म विद्या पढानेके लिए प्रार्थना की। सनत्कुमारने प्रश्न किया— ' सर्व प्रथम यह सूचित करो कि तुमने क्या और कितना अध्ययन किया है ? इतना जाननेके अनन्तरही, मैं अग्रिम सीढीका अध्यापन- क्रम क्रियान्वित करूँगा। '

नारदने विनम्रताके साथ उत्तर दिया— ' हे भगवन् ! मैं ऋग्वेदका अध्ययन किया है, यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेदको भी पढ लिया है; इतिहास-पुराण और ब्राह्मण-ग्रंथोंका भी स्वाध्यायपूर्ण कर चुका हूँ। व्याकरण निरुक्त- शिक्षा- ज्योतिष प्रभृतिके समुच्चय (वेदानां वेदम्)के अनुशीलनके साथही पितृ विद्या, गणितशास्त्र, दैव विज्ञान, नैधिकी वाक् तर्कशास्त्र नीतिशास्त्र, देव-विद्या, ब्रह्म विद्या, भूत विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या (खगोल शास्त्र) सर्प-विद्या, गान्धर्व-विद्या इतनी विद्याओंका भी अध्ययन किया है। '

तदुपरान्त सनत्कुमारने उन्हें ब्रह्मविद्याके उच्चतम सोपानोंकी शिक्षा प्रदान की।

—छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।२]

यही परंपरागत एवम् प्राकृतिक ज्ञान-प्राप्ति-संबद्ध कारण है जिसे ध्यानमें रखकर हम जिज्ञासुके रूपमें अपने अग्रणीके सामने पहुँचकर केवल इतना कहते हैं कि हे प्रभु ! हम अपने ज्ञानका परिचय देनेकी औपचारिकताका परिपालन करना व्यर्थ समझते हैं क्योंकि आपकी सर्वातिशायी प्रखर दृष्टिसे हमारे समस्त विचारों आचारों, ज्ञानों कर्मों सूत्रों प्रयोगों और सिद्धान्तों व्यवहारोंका सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंश भी तो ओझल नहीं है। आप हमारी प्रत्येक बात और क्रियासे परिचित हैं, गति एवं चेष्टा की हरएक साँसका स्पर्श कर लेते हैं।

इस मंत्र भागसे यह भी स्पष्ट होता है कि वैदिक व्यवस्थामें केवल परमेश्वरही नहीं, वरन् गुरु, सेनापति, शासक, आत्मा यानी किसी भी कोटीका अग्रणी अपने शिष्यों, सैनिकों, शासितों, इन्द्रिय कार्यकर्ताओं यानी अनुयायियोंकी प्रत्येक गति एवम् चेष्टा, विचार एवम् आचारसे पूर्ण परिचित स्वीकार किया गया है। वर्तमान समयमें अग्रणीमें इस विशेषताका अभाव होनेकाही यह दुष्परिणाम है कि उसके अनुशासन एवं नियमनकी परिधिसे अलग हटकर उसके अनुयायी पारस्परिक कलह कर्दममें धँसते हुए कर्तव्य-च्युत-से हो गये हैं। इसीलिए सही नेतृत्वका संकट उभरकर आ गया है और एक दूसरे पर कीचड उछालकर अपने दोष छिपानेमें चातुर्य समझा जाने लगा है। फिर भला, ज्ञानके विकासमें अवरोध क्यों न आयें ?

' वेद ' में ' अग्रणी ' के विषयमें स्पष्ट बतलाया गया है– ' जो खडा है जो गति–शील है, जो धोखा देता है, जो कुटिल चाल चलता है, जो छिपकर बढनेका अभ्यासी है, कुचक्र आयोजित करता है, जो औरों पर भयका घेरा डालता है. यही नहीं– जो दो व्यक्ति एक स्थान पर बैठकर गुप्त मंत्रणा करते हैं– उनमें तीसरेके रूपमें स्थित रहकर सर्व प्रकाशक, सर्वोपरि अन्तर्यामी-वरुण न्यायकारी प्रभु उसे जान लेता है।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्। द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुण-स्तृतीयः॥ अथर्ववेद; ४।१६।२

हम पाप- भावना उसी समय लाते हैं, जब एकान्त मिलता है। जब यह समझ लिया जाता है कि यहाँ दूसरा कोई नहीं है, उसी समय छिपकर दोषोंके पालनेकी प्रवृत्ति पनपती है। यह कुप्रवृत्ति कभी ' हम ' में नहीं हो सकती, ' मैं ' में होती है। कारण यह है कि ' हम ' अकेला नहीं रह सकता जब कि संकुचित ' मैं ' दूसरेको देखना तक पसन्द नहीं करता। ईश्वरकी सर्व व्यापकता समझ लेने पर मनुष्य पाप नहीं कर सकता। आस्तिक धर्मनिष्ठ ईश्वर-भक्त होकर भी जो लोग पाप करते हैं, उनमें आस्तिकता नहीं होती, धर्म नहीं खिलता, भक्ति नहीं पलती वरन् मिथ्या विश्वासका असीम प्रसार होता है, रूढि वाद पनपता है और अंधश्रद्धाकी सत्ता हावी हो जाती है।

जब हम ईश्वरको किसी सीमामें बद्ध माननेकी अपेक्षा, सर्वव्यापक, सर्व द्रष्टा, सर्व नियन्ता समझ लेते हैं तो हमारे मानसिक क्षेत्रमें यह बात घर कर लेती है कि प्रभु हमारी एक–एक चेष्टा और गति पर दृष्टि जमाये रखते हैं। गत मोक्षसे लेकर अबतक हमें जो–जो योनियाँ प्राप्त हुई, जितनी जननियाँ मिलीं, जितने पिता, भाई, या मित्रके

दायित्व मिले, जितने झटकावोंमें पडकर विस्तृत पथ पार करना पडा, जो-जो पाप और पुण्य करने पडे, अपकार-उपकार पालनें पडे, उन सबकी समग्र रूप-रेखा प्रभुके सामने प्रकट है ।

(४) युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः- हे प्रभु ! हमारे मन, चित्त, अन्तःकरण-संबद्ध आंतरिक संसार और बुद्धि-व्यापारसे कुटिल पाप हटा दीजिए ! हम पापोंकी क्षमा नहीं चाहते ! हम त्रुटियोंका जो भी नतीजा निकले उसका स्वागत करनेके लिए प्रस्तुत हैं। हमारी लालसा केवल इतनी है कि हममें कुटिल पाप न पलें।

वस्तुतः पाप हाथ, आंख कान, नाक प्रभृति इन्द्रियोंमें नहीं है । वह हमारे हृदयकी कोमलता, बुद्धिकी अस्थिरता और मस्तिष्ककी चंचलतासे संवंधित है। इसीलिए वह और उसका परिवार कुटिल होता है । वह पापकी ही शक्ति है जो हमारे संकल्पोंमें संशयके बीज बो देती है, व्रतोंमें अन्तः रायों और गंधर्वों रूपी अवरोध खडे कर देती है, कर्मोंको विनाशकारी बना देती है और लक्ष्यमें च्युति कर संघर्ष कराये बिना चैनसे नहीं रहती ।

पापकेही अस्तित्वसे ब्रह्मचर्य, संयम और नियमनका अन्त हो जाता है. शुभ भावनाएँ अशुभ बन जाती हैं और लोकसेवा लोक-क्षतिमें बदल जाती है । इसीलिए हमारा शिव स्वरूप पापसे अलग रहनेका इच्छुक है, हमारा सुन्दर जीवन पापकी कालिमासे बचना चाहता है और हमारे सत्य-रूपी प्राण पापजन्य अनृतसे छू जाना तक बुरा मानते है । अधिभूत अधिदेव और अध्यात्म प्रभृति सभी क्षेत्रोंके अग्रणी प्रभुसे इसीलिए हम कुटिल पापसे स्वयंको सुरक्षित रखनेके लिए प्रार्थना करते हैं कि हमसे कुटिल पाप दूर कर दो !

उपर्युक्त चार सोपान लांघ लेने पर हमारे पास किसी भी सुविधाका टोटा नहीं हो सकता, किसी भी साधनका अभाव नहीं रह सकता । कोई भी विभव चाहे वह सांसारिक ऐश्वर्य हो या पारलौकिक मोक्ष- हमसे दूर नहीं रह सकता। तदनन्तर पांचवें सोपानकी चरम सीमा आ जाती है । वह है—

(५) भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम- अपने अग्रणीसे यह बतलानेका भाव कि हे स्वामी ! आपने हमें सु-पथकी ओर संकेत किया, लौकिक संपत्ति और पार लौकिक मोक्षके समन्वय पर भूमा तत्वसे पूर्ण रूपसे समृद्ध किया और हमारे कुटिल पाप दूर निकाल कर फेंक दिया, इस उपकारके बदले हम आपको कुछ देनेकी स्थितिमें नहीं हैं । सब कुछ आपसे मिला हम क्या आपको दें और कैसे दें ।

इसलिए हम उपरि संकेतित समस्त उपकारोंके बदले आपके प्रति बारम्बार विनम्र स्तुति समर्पित करते हैं । इस स्तुतिमें प्रार्थना और उपासनाका पुट होगा । हम 'तोता रटन्त' जैसी औपचारिकताके रूपमें लायी गयी जप-प्रक्रिया नहीं अपनायेंगे, नामकीर्तनका थोथा प्रदर्शन नहीं करेंगे । हम जो भी स्तुति करेंगे- उसमें जो भी आपके गुण वर्णित होंगे, उनका परिचय, मनन, चिन्तन, धारण एवम् व्यवहार कर लेनेके कारण, उन्हें अपने जीवन-पथ एवम् लक्ष्य-प्राप्तिका सबल संबल स्वीकार कर लेंगे । हमारे लिए उच्चतम सोपान और निम्न तम सोपान- दोनोंका महत्व समान हैं । हम निम्नतम सोपानसे उच्चतम सोपानकी ओर बढते हैं और उच्चतम सोपानसे निम्नतम सोपानकी ओर अवतरित होते हैं ।

इसी नियमके अनुसार, हम विभव और मोक्षकी उपलब्धिके लिए सुपथ- संकेत स्वरूप 'अग्रणी' की कृपाके बदले उसकी स्तुति, प्रार्थना एवम् उपासना करनेका संकल्प व्यक्त करते हैं और इसी संकल्प- व्यक्ती करणकी प्रक्रियासे सुपथ पर चल कर सांसारिक सुख-सुविधा, विभव आदिका समाविष्ट परक उपभोग करते हुए मोक्षके धाम तक पहुँचते हैं । इसीलिए हममें सर्जन होता है, शांति होती है, सहयोग पनपता है संघ-भावना अभिवृद्ध होती है । हमारा जीवन पारस्परिक सेवाका साधन बन जाता है ।

जब हम इतनी भाव-भूमिकामें पहुँच जानेकी स्थितिमें हो जायें, तभी इस याजुष् मंत्रका वास्तविक तात्पर्य समझमें आ सकेगा । समझमें आ जानेके बाद, उसे प्रयोगके निकष पर कस लेनेके अनन्तर, व्यावहारिक रूप देना वांछित होगा ।

बकासुरकी लीला

☆

[१] भारतकालीन विविध देश

महाभारतका पाठ ऐतिहासिक दृष्टिसे जो करते हैं, उनको उसी समय पता लगता है कि, असुर, सुर, गंधर्व, किन्नर, भूत, आर्य, सर्प, वानर आदि अनेक जातिके लोगोंका संबध महाभारतकी कथामें आ गया है। विशेष आंदोलनके पश्चात् हमने निश्चय किया है कि-

(१) 'असुर लोक' अथवा असुरदेश आजकलका बैक्ट्रीया तथा असीरिया है। बैक्ट्रीया देशसे 'बक' नामक असुर आते थे, जिनको उस समयके लोग बकासुर कहा करते थे। (२) 'सुरलोक' अथवा सुरों किंवा देवोंका प्रदेश 'त्रिविष्टप' किंवा आजकलका तिब्बत है; (३) 'गंधर्वलोक' अथवा गंधर्वजातिका रहनेका स्थान हिमालयकी तराई ही है; (४) 'किन्नरलोक' गंधर्वदेशके निचले स्थान पर है। (५) 'भूत लोक' अथवा भूत जातिके लोगोंका स्थान आजकलका 'भूतान' है, जिसका नाम भूतस्थान ही है। (६) 'आर्य लोक' आर्यावर्त ही है। (७) 'सर्पलोक' किंवा सर्पजातिके लोगोंका स्थान दक्षिण भारत और (८) दण्डकारण्यके कुछ हिस्सोंमें 'वानर' जातिके लोगोंका स्थान है। इनके स्थाननिर्देश नियत करनेका कार्य चल रहा है, वह समाप्त होनेपर पाठकोंके पास उसके चित्र भी दिये जायंगे।

(२) बनावटी मुख पहननेकी प्रथा।

असुरलोग नरमांस खानेवाले, क्रूर और अत्याचारी थे; सुर अथवा देव 'लोग' गणसंस्थाके अनुसार रहते थे और इनमें गणस्त्रियोंकी रीति थी। गणसंस्थाका वर्णन हम एक स्वतंत्र लेखमें करेंगे। गंधर्वलोग नाचने, गाने और बजानेमें कुशल थे। किन्नर लोग प्रायः जंगली थे। भूतलोग विविध पशुपक्षियोंके बनावटी मुख लगाकर घूमते थे, इसलिये इनको 'काम-रूपी' कहा जाता था। राक्षस लोग भी इन रीतियोंका प्रयोग करते थे। अश्वमुख, उष्ट्रमुख, व्याघ्रमुख आदि पशुओंके मुख बनावटी लगाना और लोगोंको डराना, इनकी हमेशाकी पद्धति थी। दशमुख रावण भी संभवतः अपने सिरपर दस मुखोंकी बनावटी शकल लगाता ही होगा। भूतान और हिमालयके कई भागोंमें इस प्रकार बनावटी मुख लगानेकी रीति इस समय भी है। यह रीति महाभारतीय समयमें बहुत थी।

इसका उद्देश्य साधारण मूढ जनोंको डराना था। इस समय भी हमारे काले भाई गोरे लोगोंका बूट सूट, हैट आदि लगाकर अपने आपको 'बडा साब' बताते हुए रेलोंमें सवार होकर अपनेही गरीब और मूढ भाइयोंको कितना सताते और डराते हैं, यह बात सुप्रसिद्ध है। यही मानवी स्वभाव पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व पूर्वोक्त बनावटी मुखोंके ढांचोंसे व्यक्त होता था। आर्यावर्तके अनपढ लोगोंको डरानेके लिये और इनसे अपना मनमाना मनोरथ सिद्ध करनेके लिये यह किया जाता था।

आर्यलोग न तो राक्षसोंके समान नरमांसभोजी थे, न देवोंके समान गणसंस्थामें रहनेवाले और न भूतोंके समान डरावेके लिये बनावटी मुख धारण करनेवाले थे। परन्तु ये लोग राक्षसोंका शौर्य, देवोंकी सभ्य युक्ति और भूतोंका युद्धकौशल अपना कर अपनी पूर्ण उन्नति करनेमें दक्ष थे। तथापि साधारण जनता थोडीसी बातसे डरनेवाली, मरियल, दुर्बल और अज्ञानीही थी।

सर्प जातके लोग छिपकर हमला करनेवाले थे और वानरजाति प्रायः नंगीही रहती थी। इनमें बहुत थोडे लोग वस्त्रादिसे आच्छादित भी होते थे। वह जाति इस समय भी म्हैसूरराज्यके जंगलोंमें विद्यमान है, वे कपडा देनेपर भी उसको पहनना 'अधर्म' समझते हैं और अपना छप्पर वृक्षपरही बनाकर रहते हैं।

पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व इतनी जातियोंके लोगोंसे आर्योंका राजकीय, धार्मिक तथा अन्य संबंध होता था। इस समयका मनोरंजक इतिहास महाभारतमें पाठक देख सकते हैं। उदाहरणके लिये 'बकासुर' की कथा लीजिये। आदिपर्व के १५९ अध्यायसे

१६६ अध्याय तक यह कथा है और इसके पढनेसे उस समयके समाजका चित्र पाठकोंके सामने आ जाता है। कथा इस प्रकार है—

[३] वेत्रकीय राज्य।

वेत्रकीयगृह नामक एक छोटासा स्थान अथवा छोटीसी रियासत गंगानदीके उत्तर किनारे और हिमाचलसे दक्षिण दिशामें थी। यह प्रांत आजकलके संयुक्तप्रांतमें लखनौकी उत्तर दिशामें था। यहां एक छोटासा दुर्बल और अनपढ राजा राज्य करता था। इसका वर्णन यह है—

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नयमिहास्थितः।
उपायं तं न कुरुते यत्नादपि स मंदधीः॥ ९॥
अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वतम् १०
एतदर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बलस्य ये।
विषयं नित्यमुद्विग्नाः कुराजानमुपाश्रिताः॥

(म. भा. आदि अ. १६२)

'इस स्थानमें वेत्रकीयगृह नामक एक स्थान है, वहां इस देशका राजा रहता है, वह बुद्धिहीन राजा राजनीतिका आश्रय नहीं करता। यद्यपि राक्षसोंका वधके लिये वह स्वयं असमर्थ है, तथापि यत्नसे ऐसा कोई उपाय नहीं ढूंढता, कि जिससे इन सब लोगोंके लिये सदा कुशल हो जाय। हम लोग उस दुर्बल और बुरे राजाके भरोसेपर सदा भयभीत होकर भी उसके ही अधिकारमें रहते हैं, इसलिये हम ऐसे दुःखके भोगनेके योग्यही हैं।'

[४] पांडवोंका निवास।

इस वेत्रकीयगृहनामक छोटीसी रियासतमें एकचक्रा नामक एक नगरी थी, इस नगरीमें एक विद्वान् ब्राह्मणके घरमें गुप्त रूपसे कुंतीसहित पांचों पांडव विद्याध्ययन करते हुए और भिक्षावृत्तिसे गुजारा करते हुए रहते थे। दुष्ट दुर्योधनके लाक्षागृहमें पांडवोंको जला मारनेकी युक्तिका पहले जानकर गुप्त रीतिसे महामना विदुरजीका सहाय्य लेकर उस लाक्षागृहको स्वयंही आग लगाकर छिपछिपकर पांडव भागे थे। वे जंगलों और वनोंमें भ्रमण करते करते इस एकचक्रा नगरीमें धीमान् व्यास मुनिकी प्रेरणासे इसी ब्राह्मणके घरमें रहे थे। सब लोग पांडवोंको जले और मरेही मानते थे, परंतु केवल महामना विदुर और धीमान् व्यासदेव यही दो तथा तीसरा विदुरका शिल्पी इतने तीन लोग पांडवोंका जीवित रहना जानते थे। यदि कौरव इन पांडवोंका अस्तित्व जानते, तो उनको युक्ति-प्रयुक्तिसे नष्ट करनेके लिये वे कटिबद्धही थे, इसीलिये इस समय पांडवोंको ब्राह्मणोंके पहनावसे वेदाध्ययन करते हुए और भिक्षावृत्तिसे आजीविका करते हुए, इस एकचक्रा नगरमें रहना आवश्यक हुआ था। राजकीय घटनाओंके कारण समय समयपर इस प्रकार गुप्त भाव रखनेके लिये वेषांतरसे रहना बडे बडे लोगोंको, भी आवश्यक होताही है।

जिस ब्राह्मणके घरमें पांडव रहते थे, उस ब्राह्मणके कुंतीके साथके भाषणमें पूर्वोक्त श्लोक आ गये हैं। उन श्लोकोंमें जो इतिहास है, उससे निम्न राजकीय घटनाका पता स्पष्टतासे लगता है—

[५] वेत्रकीय रियासतका दुर्बल राजा।

(१) वेत्रकीयगृह नामक रियासतका राजा अत्यंत दुर्बल, राजनीति न जाननेवाला, स्वयं राक्षसोंके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ, किसी एक राक्षसका मुकाबला करनेके लिये भी असमर्थ, तथा दूसरे रियासतोंकी मददसे राक्षसोंको हटानेमें भी असमर्थ था।

(२) इस रियासतमें नगर नगरमें राक्षस रहते थे। वे नगरके बाहर वनों और उद्यानोंमें अपने डेरे लगाकर रहते थे और जिस नगरके पास वे अपना डेरा जमा लेते थे, उस नगरसे अपनी आजीविकाके लिये आवश्यक भोजनादिक सब पदार्थ जबरदस्तीसे लेते थे और न देनेपर उस नगरके लोगोंपर मनमाना अत्याचार करते थे।

(३) इन राक्षसोंका दंड करनेका सामर्थ्य उन रियासती राजाओंमें न था। इस कारण सर्वसाधारण जनताके पीछे एक तो अपने निजू रियासती राजाका भय रहता था और दूसरा राक्षसोंका उपद्रव हमेशा रहता था।

(४) इस कारण जनता अत्यंत दुःखी और दीन बनी थी।

जिस एकचक्रा नगरीमें पांडव गुप्तभावसे रहते थे, उस नगरके समीपके वनमें 'बकासुर' नामक

एक राक्षस अपने बडे परिवारसमवेत रहता था। देखिये इसका वर्णन—

[६] नगरके रखवारे असुर।

समीपं नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः।
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः॥ ३॥
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः।
रक्षत्यसुरराट् नित्यमिमं जनपदं बली॥ ४॥
नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः।
तत्कृत परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम्॥
वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति॥ ६॥
एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनं।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः॥ ७॥
(म. भा. आदि. अ. १६२)

'इस नगरके निकट बक नामक एक महाबली राक्षस रहता है। वह पुरुषखादक इस नगर और प्रदेशका अधीशसा रहता है; मनुष्यके मांससे पुष्ट, बली दुष्टबुद्धि वह असुरराज सदा इस देशकी रक्षा करता है। इस देशके राक्षसी बलसे रक्षित होनेके कारण अन्य देशसे वा किसी प्राणियोंसे या भूतोंसे हमारे भयकी संभावना नहीं है। एक गाडी अन्न, दो भैसे और एक मनुष्य जो उन्हें ले जाता है, यह सब उस राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें निर्दिष्ट है। इस देशका हरएक गृहस्थ अपनी अपनी बारीमें एक एक दिनके हिसाबसे नित्य वह भोजन पहुंचाता है। बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थके लिये यह कठोर बारी आ जाती है।'

इस ब्राह्मणके कथनसे राक्षसके वेतनका स्वरूप ज्ञात हो जाता है, तथा कई अन्य बातोंका पता लग जाता है—

(१) अपने असुर देशसे कई राक्षस इस आर्यावर्तमें आकर कई ग्रामोंमें अथवा ग्रामोंके बाहर रहते थे।

(२) इन असुरोंका एक एकका भी बल इतना अधिक होता था कि उनके सामने ग्रामों और नगरोंके लोग अपने आपको बिलकुल दुर्बल समझते थे।

(३) उस समयके भारतवर्षीय रियासतोंके राजा महाराजा भी इन निशाचरोंके सामने अपने आपको दुर्बल समझते थे।

(४) किसी भी रियासती राजाके नगरमें ये राक्षस आकर रहें, तो वह राजा इनको हटानेमें बिलकुल असमर्थ था। इसलिये प्रायः रियासती राजालोग इनका किसी भी प्रकारका प्रतिबंध कर नहीं सकते थे। इस कारण नगरवासी जनों पर इनका अत्याचार अत्यधिक होता था।

(५) ये राक्षस ग्राम और नगरोंकी सर्व प्रकारसे रक्षा करनेका कार्य अपने ऊपर लेते थे और इनमें यह एक गुण भी था कि, जिस ग्रामकी रक्षा करनेकी जिम्मेवारी ये अपने ऊपर लेते थे, उसकी पूर्ण रीतिसे रक्षा कर लेते थे। उस ग्राम पर परशत्रुका हमला हो, व्याघ्र सिंह आदिका उपद्रव होवे, भूतलोग अर्थात् भूतानी लोग आदिकोंका हमला होवे, सब प्रकारके हमलोंसे ये राक्षस उस ग्रामकी पूर्ण रक्षा करते थे और स्वयं शत्रुसे लडते थे। इसी कारण वह ब्राह्मण कुंतिसे कहता है कि इस बकासुरके कारण परचक्र आदिसे हमें भय नहीं है, यह उसके अनुभवकी ही बात थी।

[७] नगरकी दुर्बलता।

(६) इस कारण यह होता था कि, प्रतिदिन नगरवासी लोग अधिकाधिक दुर्बल हो जाते थे और उसी प्रमाणसे राक्षस अधिकाधिक बलवान् होते थे। क्योंकि यदि नगरवासी लोग अपनी रक्षा स्वयं करनेका यत्न करेंगे, तो ही साहस, शौर्य, धैर्य, आदि गुण उनमें बढ सकेंगे, यह काम नगरवासियोंने राक्षसों पर सौंप दिया था, इसलिये नगरवासी दिन प्रतिदिन दुर्बल हो जाते थे, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो कोई राष्ट्र अथवा रियासत अपनी रक्षा स्वयं नहीं करेगा, और वह कार्य दूसरों पर सौंप देगा, वह भी इसी प्रकार दुर्बल होता जायगा। जिस प्रमाणसे नगरवासी दुर्बल होते थे, उसी प्रमाणसे राक्षस, रक्षक होते हुए भी अधिक बलवान् होनेके कारण, ग्रामवासियों पर अत्याचार भी करनेमें निःशंक हो जाते थे। क्योंकि उनको अपनी शक्तिका विश्वास था और नागरिकोंकी कमजोरीका भी पूर्ण ज्ञान था।

(७) ऐसी अवस्थामें दिन प्रतिदिन राक्षसोंके अत्याचारोंकी मात्रा बढ जानी स्वाभाविकही है। नगरवासी पूर्ण परावलंबी और राक्षसोंकी रक्षासे सुरक्षित होनेके कारण राक्षसोंके अत्याचारोंकी कोई सीमा नहीं थी। राक्षस भी मनमें यही समझते थे कि, हमें अब कोई प्रतिबंध करनेवाला नहीं है, ये ग्रामके लोग हमारी दयापरही जीवित रहनेवाले हैं, इसलिये इनसे तो हमें कोई डरही नहीं है।

(८) इस कारण राक्षसोंका स्वभाव यही बनता जाता था, कि, 'जितनी मौज हो सकती है करो, अब हमही इस नगरके अधीश हैं, न तो ये लोग हमारा कुछ कर सकते हैं और न तो इस रियासतका राजा हमारा कुछ बिगाड सकता है। इनको तो अपनी रक्षाके लिये हमारीही शरण लेनी चाहिये।' राक्षसोंके ऐसे हार्दिक भावके कारण लोगोंके दुःखकी कोई सीमा नहीं थी।

[८] बकासुरका वेतन।

(९) इसी कारण एकचक्रा नगरीके रक्षक बकासुरने उस नगरीके लोगोंसे यह निश्चय कराया था कि प्रतिदिन बारी बारीसे एक एक घरवाला एक गाडीभर अन्न, दो भैसे और एक आदमी वेतनके रूपमें देवे। सन १९४१ के बाजारभावसे इस वेतनका मूल्य निम्नलिखित हो सकता है।

३० तीस गाडे अन्नका मू०	१५००) रु.
६० साठ भैसोंका मू०	३०००) ,,
३० तीस मनुष्योंका	१५०००) ,,
बकासुरका मासिक वेतन	१९५००) ,,

दो भैसोंकी एक गाडीमें कमसे कम ५०) पचास रु. का अन्न रहता है, दो भैसोंका मूल्य १००) सौ रु. है, और आदमीका मूल्य साधारणतः ५००) पांच सौ रु. होगा। अर्थात् प्रतिदिनका बकासुरका वेतन ६५०) रु. होता है। इस हिसाबसे उसका मासिक वेतन १९५००) रु. आजकलके बाजरभावसे होता है। किसी स्थानपर धान्य, भैसे और मनुष्यका मूल्य न्यून वा अधिक भी हो सकता है। परन्तु उसका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।

कई कहेंगे कि उस समय धान्य और भैसे बहुतही सस्ते होंगे। यह सत्य है, परन्तु उसमें बात यह है कि जो कोई मूल्य इन वस्तुओंका उस समय हो, उससे उन नागरिकों पर उतनाही बोझ हो सकता है कि जितना आज कल हमारे नगर पर साडे उन्नीस हजार रु० का बोझ होता है। यदि आजकल किसी नागरिकोंको प्रतिमास इतना रु. देकर अपनी रक्षा मोल लेनी पडे, तो जितना उनको कष्ट होगा उतनाही कष्ट एकचक्रानगरीके निवासियोंको होता था।

[९] एकचक्रा नगरकी आबादी।

(१०) अब विचार करना है कि एकचक्रा नगरीमें आबादी कितनी थी? इसका भी अंदाज हम उक्त ब्राह्मणके वचनसे कर सकते हैं।

स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥

(म. भा. आदि. अ. १६२।७)

'बहुत वर्षोंके पीछे एक एक गृहस्थीके लिये यह कठोर बारी आ जाती है।'

संस्कृत भाषामें केवल 'वर्षैः' यह प्रयोग कमसे कम तीन वर्षोंके लिये होता है और 'बहुभिः वर्षैः' यह प्रयोग कमसे कम तीन गुणा तीन अर्थात् नौ वर्षोंके लिये होना संभव है। तथापि नौ दस वर्षोंतककी अवधिके लिये कोई भी मनुष्य 'बहुतही वर्ष' नहीं कहता। 'बहुत वर्ष' कहनेके लिये कमसे कम बीस वर्ष व्यतीत होने चाहिये। यह बात दूसरे भी प्रमाणसे सिद्ध होती है देखिये। उक्त ब्राह्मण अपनी पत्नीके साथ किये भाषणमें कहता है कि—

क्षेमं यतस्ततो गंतुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥
इह जाता विवृद्धास्मि पिता चापि ममेति वै।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयाऽसकृत् २७

(म. भा. आदि. अ. १५९।२७)

'हे ब्राह्मणी! यह कुबुद्धि तेरीही है, जब कि मेरे बार बार अन्य स्थानमें जानेको चाहनेपर भी तुमने कहा था कि 'यह मेरी पैत्रिक भूमि है, यहां मैं जन्म लेकर बुढिया हो गई हूं, इसको त्याग नहीं सकती।'

अर्थात् इसकी स्त्री वृद्धा बन गई थी। विवाहके बाद इसको दो संतान भी हो चुके थे कि जिस दिन इस ब्राह्मण पर भोजन देनेकी बारी आ गई थी। यह ब्राह्मण पर पहिली ही बारी थी और अपनी स्त्रीके कारण ही इस नगरमें वह रहा था, नहीं तो

छोडकर दूसरे स्थान पर जाना चाहता था। स्त्रीका विवाह कन्या होनेके समय अर्थात् १५।१६ वर्षकी आयुमें हुआ होगा और इस समय वह स्त्री कमसे कम ३५ वर्षकी अवस्थामें होगी। अर्थात् कमसे कम २० वर्षोंकी अवधिमें ब्राह्मणपर एकबार बारी आ गई थी संभवतः अधिक समय व्यतीत हुआ होगा। परंतु उस नगरकी आबादीका हिसाब लगानेके लिये हम बीस वर्षमें एक बार बारी आती है, ऐसा समझेंगे। प्रति वर्षमें ३६० दिनके हिसाबसे बीस वर्षोंके ७२०० दिन हो गये। इससे स्पष्ट है कि, कमसे कम सातआठ हजार घर उस एकचक्रा नगरीमें होंगे और प्रति घर पुरुष स्त्री, दो बच्चे और एक वृद्ध मनुष्य ऐसे पांच आदमी औसद मान लिये जांय, तो आठ हजार घरोंके ग्राममें चालीस हजारकी आबादी होना संभव है।

चालीस हजारकी आबादीके ग्रामसे साडे उन्नीस हजार रु. का वेतन प्रतिमास राक्षस लेता था, अर्थात् प्रति आदमीको प्रति मास आठ आने देने पडते थे, इसके अतिरिक्त उस रियासतके राजाका करभार होगा, तथा स्थानिक व्यय और ही होगा। जो ग्राम स्वयंसेवकों द्वारा अपनी रक्षा कर नहीं सकता, उनको इसी प्रकार जुर्माना देना ही पडता है।

(११) प्रति दिन एक घरसे भोजन भेजनेका नियम था। नियमपूर्वक भोजन भेजा गया तो ठीक, नहीं तो वह राक्षस उस घरका नाश जैसा मर्जी आये करता था। इस प्रकार उस नगरीके लोग अपना अपना भोजन भेजकर अपना बचाव कर लेते थे। यदि किसीके घर भेजनेयोग्य मनुष्य न हो अथवा बारीवाला मनुष्य धनाढ्य हो, तो वह किसी दूसरे मनुष्यको मोल लेकर भी अपना काम चला लेता था। इसीलिये ब्राह्मण रोतेसमय कहता है कि-

(१०) आदमीका विक्रय।

सोऽयमसमानुप्राप्तो वरः कुलविनाशनः।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया॥ १५॥
न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्।
(म. भा. आदि. अ. १६२)

'आज हमारी कुलनाशी वह बारी आयी है, राक्षसके भोजनके लिये वेतनके स्वरूपमें एक मनुष्य मुझको देना पडेगा। पर मेरे पास इतना धन नहीं है कि, किसी स्थानसे एक मनुष्यको मोल लेकर दूं।'

(१२) अर्थात् धनिक लोग मोलसे मनुष्य खरीद कर राक्षसके भोजनके लिये अर्पण करते थे और उस समय मनुष्य भी इस प्रकार बेचे जाते थे। आजकल विवाहके लिये लडकी मोल लेनेकी निंद्य रीति कई स्थानोंपर है, परंतु मरवानके लिये आज-कल आदमी मोलसे नहीं मिल सकेगा। परंतु उक्त ब्राह्मणके भाषणसे पता लगता है कि, उस समय आदमी मोलसे मिलनेकी भी संभावना थी!!

(१३) इतना विचार होनेके पश्चात् यह प्रायः निश्चय हुआ कि, उस एकचक्रा नगरीमें कमसे कम चालीस हजारकी आबादी थी और प्रतिदिन उक्त वेतन उस राक्षसको पहुंचाना पडता था। न देनेपर वह राक्षस उस बारीवाले गृहस्थीका पूरा नाश कर डालता था। एक असुरजातिका मनुष्य और उसके साथ तीसचालीस छोटेमोटे असुर होंगे, इनका अत्याचार चालीस हजार नगरवासी चुपचाप सहन करते थे। चालीस हजार नगरवासी लोग बक राक्षसकी सहायताके विना स्वयं अपना बचाव कर नहीं सकते थे। और उस राक्षसको हटाना भी उस नगरकी शक्तिके बाहर था। विचार कीजिये कि, उस नगरके लोग कैसे दुर्बल होंगे।

[११] राक्षसके विरोधका फल।

(१३) समय समय पर कई नागरिक उस राक्षससे बचनेका यत्न भी करते थे, परन्तु उनकी बडी दुर्गति होती थी। देखिये—

तद्विमोक्षाय ये केचिद्यतन्ति पुरुषाः क्वचित्।
सपुत्रदारांस्तान्हत्वा तद्रक्षो भक्षयत्युत॥ ८॥
(म० भा० आदि० अ० १६२)

'यदि कभी कोई इससे बचनेकी चेष्टा करता है, तो वह राक्षस स्त्रीपुत्रोंके साथ उसको मारकर खा जाता है।' यह अवस्था थी। अर्थात् उक्त नियमसे बचनेकी चेष्टा करनेपर वह राक्षस उस रियासती राजाकी अदालतमें नालिश नहीं करता था, परन्तु उस राजासे विना पूछे ही नगरमें आकर उस बारीवाले घरके सब आदमियोंको मारकर खा लेता था और उसका सब घर ही नष्टभ्रष्ट कर लेता था। और यह सब अत्याचार अन्य नागरिक देखते थे, इतनी दुर्बलता उन नागरिकोंमें थी। यदि उनमें संघशक्ति होती और शौर्यवीर्यादि गुण थोडे भी रहते, तो उस राक्षसको हटाना चालीस हजार आबादीवाले नगरको कोई अशक्य बात नहीं थी। परन्तु संघशक्तिके अभावके कारण ही वह नगर

इतना कमजोर बन गया था। हरएक मनुष्य केवल अपना हित ही साधन करनेमें दत्तचित्त था और सब मिलकर संघशक्ति बनाकर अपनी रक्षाके लिये तैयार होनेकी बुद्धि किसीमें भी नहीं थी।

[१२] मनकी दुर्बलता।

चालीस हजार आबादीका नगर असुर देशके एक राक्षसके भयंकर अत्याचार सहन करता है और उसके विरुद्ध अपना हाथ तक नहीं उठाता, इससे अधिक उस नगरवासियोंको लज्जास्पद बात तो कौनसी हो सकती है? देखिये, उसी ब्राह्मणके शब्दोंमें उस समयकी अवस्था—

न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम्॥ २॥
(म० भा० आदि० अ० १६२)

'यह दुःख दूर करना मनुष्यकी शक्तिके बाहर है।' अर्थात् यदि कोई दूसरा 'राक्षस' लाया जाय, अथवा कोई तिब्बतका 'देव' आ जाय, तो ही उस राक्षसको हटाया जा सकता है। इस नगरका कोई भी मनुष्य राक्षसका प्रतिबंध नहीं कर सकता यह हरएकके मनमें निश्चित भाव रहना ही उन नागरिकोंकी हद दर्जेकी कमजोरीका पर्याप्त प्रमाण है।

इस बकासुरका वध भीमसेनने किया। अर्थात् भीमसेन जैसा अकेला मनुष्य भी उस राक्षसको मार सकता था, परंतु शोककी और साथ साथ लज्जाकी बात यही है कि चालीस हजार आबादीके नगरमें समय पर दस पांच भी पहिलवान नहीं निकल सके!! यह उस नगरकी कमजोरी थी। इससे अधिक कमजोरी होना ही संभव नहीं है।

[१३] शस्त्रास्त्रोंसे अनभिज्ञ असुर।

भीमसेनने मल्लयुद्ध अर्थात् कुश्ती करके बकासुरको मारा। इस समय बकासुरके अनुयायियोंने अथवा स्वयं बकासुरने किसी भी शस्त्र या अस्त्रका प्रयोग भीमसेन पर नहीं किया। यदि बकासुरके डेरेमें शस्त्रास्त्र रहते, तो वे उसके अनुयायी अपने बक राजाके मृत्युके समय भी शत्रुपर प्रयुक्त न करते, यह संभव ही नहीं था। अर्थात् ये असुर, कमसे कम बकासुर और उसके अनुयायी शस्त्रास्त्र जाननेवाले नहीं थे। केवल शारीरिक बल, लाठी, पत्थर तथा इसी प्रकारके अन्य साधनोंसे लडनेवाले क्रूर आदमी थे। इस प्रकारके पचीस तीस क्रूरकर्मा असुरोंका भय चालीस हजारकी आबादीके नगरवासीयोंको कई साल सता रहा था और वे इसका बिलकुल प्रतिकार कर नहीं सके थे। पाठक ही सोच सकते हैं कि इस प्रकारके कमजोर और दुर्बल नगरवासियोंका जीवित रहनेका भी अधिकार क्या है? चालीस हजार लोगोंने संघशक्तिके साथ एक एक तिनका भी फेंक दिया होता, तो उसके नीचे वह राक्षस दब जाता, परन्तु संघशक्तिके अभावके कारण ही वह राक्षस इस ग्रामको इतना सता रहा था। भीमसेनने उसको मारा और उस एकचक्रा नगरीको तथा उस वेत्रकीय रियासतको असुरके भयसे मुक्त किया।

जिस भयको अकेला तेजस्वी वीर हटा सकता है, उसको चालीस हजार डरपोक दुर्बल आदमी भी हटा नहीं सकते। जिस समय भीमसेनने बकासुरका वध किया, उस समय बकके सभी अनुयायी घबराये। देखिये, इसका वर्णन—

[१४] बकासुरका वध।

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम्।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद्बकः॥ १॥
तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः।
निष्पपात गृहाद्राजन्सहैव परिचारिभिः॥ २॥
तान्भीतान्विगतज्ञानान्भीमः प्रहरतां वरः।
सान्त्वयामास बलवान्समये च न्यवेदयत्॥ ३॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति॥ ४॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम्॥ ५॥
ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः॥ ६॥
(म० भा० आदि. १६६)

'बडे भारी बक राक्षसने देह टूटने पर बडा कोलाहल मचाता हुआ प्राण छोडा। उसके परिवार-वर्ग उस शब्दसे भय खा कर नौकरचाकरोंके साथ घरसे निकलकर भीमके पास आ गये। मारनेमें तेज महाबली भीमसेनने उनको भयभीत और ज्ञानरहित देखकर समझाया और यह कहकर उनसे प्रतिज्ञा करा ली, 'तुम फिर कभी मनुष्य न मारना, यदि मारोगे, तो तुमको ही तुरन्त ही इस प्रकार नष्ट होना पडेगा।' राक्षसोंने वृकोदरकी यह बात सुनकर, उस बातको मान कर उस नियमको स्वीकार किया। तबसे नगरवाले उस नगरमें राक्षसोंको शांतस्वभावी देखने लगे।'

(१) भीमसेनके उस बकासुरको मारने पर वहांके अन्य सब राक्षस (जिनमें (दाक्षिणात्य महाभारतके अनुसार) बकासुरका एक भाई भी था, सबके सब डर गये और भीमसेनको शरण आ गये। बडे नरम हुए। इस वर्णनसे पता लगता है कि, वे राक्षस भी अपने जीवको अन्य मनुष्योंके समानही सुरक्षित रखना चाहते थे। जब तक मनुष्य डरते थे, तब तक ही उनका अत्याचार चलता था; परंतु जब मनुष्य भी उनको ठीक देनेको तैयार हो जाते थे, तब वे भी मनुष्योंके समानही डर जाते थे। अर्थात् ये राक्षस मनुष्योंके समान ही थे, परन्तु थोडे अधिक क्रूर थे। अतः यह स्पष्ट है कि, चालीस हजार आबादीके नगरवासियोंको इतने साल डरानेवाली कोई बात उनमें नहीं थी। परंतु शहरवासियोंकी अक्षम्य बुझदिलीके कारण ही वे शहरको सता रहे थे।

[१५] असुर नरम हुए।

(२) भीमसेनने उन राक्षसोंका संहार नहीं किया, प्रत्युत एक प्रशंसनीय आर्य वीरके योग्य ही उन सब राक्षसोंको समझाया और उनसे प्रतिज्ञा करवायी कि, 'वे इस समयके पश्चात् किसी मनुष्यका वध न करें।' सब राक्षसोंने भीमसेनके सामने मनुष्य-वध न करनेकी प्रतिज्ञा की और अपनी जान बचाई! भीमसेनने यह भी उनको निश्चयके साथ कहा कि, यदि फिर मनुष्य वध करोगे, तो उसी समय तुम सबको इसी प्रकार मार देंगे। इस प्रकार राक्षसोंको आर्यसभ्यता सिखानेवाला यही पहिला आर्यवीर था। इसका परिणाम भी उन राक्षसों पर अच्छा ही हुआ।

(३) उस दिनसे वहांके सब राक्षस नम्र हुए। शहरमें घूमनेके समय राक्षस नीचे मुंह करके चलने लगे। नहीं तो पहले उस शहरमें राक्षस छाती ऊपर करके घूमते थे और किसी भी आदमीका अपमान करनेमें उनको कुछ भी संकोच नहीं होता था। किसी गृहस्थने यदि उनको पूर्वोक्त वेतन न दिया, तो उसके सर्वस्वका नाश करने और उसके घरके सब आदमियोंको मारकर खानेमें भी उनको कोई संकोच नहीं होता था। परंतु वेही राक्षस उसी शहरमें आनेके समय डरने लगे!! परिवर्तन केवल अकेले नगरवासीके धैर्य दिखानेसे हुआ। यदि उस नगरमें इस प्रकार धीर वीर दो-चार भी पुरुष रहते, तो उनको कोई कष्ट होना संभव ही नहीं था। परन्तु इस घटनासे भी उस नगरके आदमियोंने कोई बोध नहीं लिया, देखिये—

[१६] कर्तव्यमूढ जन।

तत्राऽऽजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ॥१२॥
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम्।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशां पते ॥ १३ ॥
(म० भा० आदि अ० १६६)

'स्त्री, वृद्ध, बालक, तरुण आदि सब नगरवासी लोग उस मरे हुए बकराक्षसको देखनेके लिये वहां आ गये और वह अमानुष कर्म देखकर सभी विस्मित हुए। उसके बाद सब लोग देवतोंकी उपासना करने लगे।'

देखिये, बकासुरका वध एक मनुष्यने किया, यह देखनेके बाद भी उस नगरके निकम्मे लोग आखाडे खोल कर और अपने आपको मल्लयुद्धमें प्रवीण बनानेका यत्न न करते हुए, मंदिरोंमें देवताओंकी पूजा करने और घंटे बजानेमें मस्त रहे! हमारा यह विचार नहीं है कि आनंद होने पर अपनी इष्ट रीतिसे ईश्वरकी उपासना कोई न करे; परंतु यहां बताना यह है कि एक बलवान् मनुष्यद्वारा उस राक्षसका वध होनेका बात प्रत्यक्ष देखने पर भी अपना बल और अपनी संघशक्ति बढानेकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई, उन्होंने नगरमें आखाडे नहीं खोले, नवयुवकोंको व्यायाम और कुश्ती करके बल बढानेमें उत्तेजित नहीं किया, परंतु अपने अपने मंदिरोंमें जाकर केवल पूजापाठ ही करने लगे और खूब प्रार्थना भी उन्होंने की होगी!!

तात्पर्य, प्रत्यक्ष बनी हुई घटनासे भी लेनेयोग्य बोध नहीं लिया!! क्या जो लोग इस प्रकारके कर्तव्य-शून्य होंगे वे कभी अपनी रक्षा कर सकते हैं? कभी नहीं। उनपर यदि बकासुर न रहा, तो दूसरा हिडिंबासुर आकर हुकुमत चलायेगा ही। इस बकासुरकी लीलासे अपनी शक्ति बढानेका बोध हरएक ग्रामनिवासीको लेना चाहिये, अपनी रक्षा स्वयं करनी चाहिये, इत्यादि भाव स्पष्ट ध्यानमें आ सकते हैं।

[१७] इस कथासे बोध।

बकासुरकी कथाका निरीक्षण करनेसे उस समयकी सामाजिक स्थितिका जो चित्र मनके सम्मुख खडा होता है, वह ऊपर दियाही है। पाठकही विचार

करें कि क्या यह चित्र समाधानकारक है? जो न्यूनता उस नगरवासियोंमें थी, वह अपनेमें है या नहीं, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। यदि उस प्रकारकी न्यूनता होगी, तो उसको दूर करना चाहिये। यही बोध इस प्राचीन कथाके पढनेसे लेना उचित है।

पाठक पूछेंगे कि अब राक्षसही नहीं हैं, इसलिये अब हमें बल बढानेकी क्या आवश्यकता है? जो मनुष्य आजकी स्थिति भी देखेंगे, अपने आंख खोलकर चारों ओर देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि इस समयका हरएक नगर, उतनाही कमजोर है कि जितने एकचक्रा नगरीके लोक थे। कलकत्ते जैसे बडे भारी नगर कि जिसकी आबादी दस लाखसे भी अधिक है, वहांके लोक सौपचास पठाणोंके दंगेके समय भी अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते हैं। उतनाही बडा बम्बई शहर है, वहां भी पठाणोंका उपद्रव इतना है कि लोग बडेही क्लेशित हुए हैं और अंतमें अखबारोंमें 'लेख' पठाणोंके विरोधमें लिख मारते हैं!! उस लेखसे पठाणोंका बिगडना क्या है? बंबईके कई मूर्ख धनिक इस समय भी यह समझते हैं कि अपने घरकी रखवारी पठाणके द्वाराही अच्छी होती है, इसका परिणाम उनको अंतमें बहुतही बुरी रीतिसे भोगना पडता है। महाराष्ट्रमें प्रायः छोटे मोटे ग्रामोंमें दोचार पठाण रहतेही हैं और लेनदेनका व्यवहार करते हैं। जो गरीब लोग विशेषतः गरीब औरतें उनसे रुपये लेती हैं, उनको इतने कष्ट भोगने पडते हैं कि उनका वर्णन यहां करना असंभव है। यह बीमारी यहां तकही समाप्त नहीं होती। पूनाके पेशवाओंके देवतामंदिरकी रक्षाके लिये रखवारे पठाण अथवा रोहिलेही थे। पेशवाओंका धुरंधर दीवान नाना फडनवीसकी आत्मरक्षाके लिये भी वेही नियुक्त थे। इससे यह होता था कि जिस समय ये पठाण लोग बिगड बैठते थे, उस समय स्वयं पेशवाओं पर भी बडी भारी आफत मच जाती थी!! जिस प्रकार पांडवोंके समय वेत्रकीय रियासतमें एकचक्रा नगरीका रक्षण ये असुर-देशीय राक्षस कर रहे थे, उसी प्रकार स्वयं पेशवाओंके भवन पर ये विदेशी पठाण और रोहिलेही रक्षक थे। देखिये ये रक्षक कहांतक फैले हैं!!

जो अवस्था महाराष्ट्रकी है, वही मध्यप्रांत और संयुक्तप्रांतमें अंशतः है। पंजाबके लोग बहुत वीर हैं परन्तु सीमाप्रांतके ग्रामोंमें आफ्रीडी पठाणोंके कारण इनको इतने कष्ट इस समय भी होते हैं कि उनका वर्णन सुननेसे हृदय फट जाता है।

जब इस बीसवी सदीमें संपूर्ण सभ्यता इतनी बढ जानेपर और शस्त्रास्त्र इतने उन्नत होनेपर भी पठाणादिकोंसे भारतीय जनताका इतने क्लेश सांप्रतमें हो रहे हैं, तो सहस्रों वर्षोंके पूर्व जिस समय जनतामें कई प्रकारकी कमजोरियां थीं, उस समय पठाणों और रोहिलोंकी अपेक्षा सेकडों गुणा क्रूर और नरमांसभोजी खून पिनेवाले असुरदेशीय राक्षसोंसे पूर्वोक्त प्रकार एकचक्राके नगरवासियोंको कष्ट हुए, तो कमसे कम आजकलके भारतीय नागरिकोंको अपने पूर्वजोंकी हँसी करनेका अधिकार तो बिलकुल नहीं है। क्योंकि एकचक्रानगरीके रहिवासियोंके समानही आजकलके हिंदुस्थानी अपने ग्राम, नगर, प्रांत और राष्ट्रका संरक्षण करनेमें वैसेही असमर्थ हैं। भेद इतनाही है कि उस समय उनके पास एक भीम था और इस समय कोई भीम नहीं है और इसके साथ भारतीय जनता आपसकी फूटसे शतधा विदीर्ण है। इसलिये पाठकही विचार कर सकते हैं कि गत पांच सहस्र वर्षोंमें स्वसंरक्षण करनेके विषयमें हम सुधर गये हैं, या बिगड गये हैं। इसका विचार करनेके पश्चात् इस कथासे उचित बोध हरएकको लेना चाहिये। वह बोध यही है कि, हरएक व्यक्ति, कुटुंब, ग्राम, नगर प्रांत और देशको अपना संरक्षण करनेकी और दूसरोंकी रक्षा करनेकी शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये। कमजोर रहनेवालोंका जीवित वैसाही कष्टमय होगा, जैसा कि एकचक्रानगरीनिवासियोंका हो गया था। बकासुर सदा सर्वत्र रहतेही हैं। यदि पूर्वकालमें बकासुर मनुष्योंका रक्त प्रत्यक्ष पीते थे, तो इस समय अन्य रीतिसे सताते होंगे और भविष्यमें कोई दूसरीही रीति ढूंढेंगे। सतानेकी रीति भिन्न होनेपर भी क्लेशोंकी मात्रा न्यून नहीं होती, यह ध्यानमें धरना चाहिये। बकासुर जनताको क्यों सताते हैं? इसका उत्तर यही है कि जनता वैदिक उपदेशानुसार चलती नहीं। वेदका उपदेश बलसंवर्धनके विषयमें प्रसिद्धही है, उनमेंसे यहां नमूनेके लिये एकही मंत्र देखिये—

(६४३) 'प्रजानुराग पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम ।' (भागवत १०।४९।५)

'सहद्भिः' अशुद्ध है । 'सहमानैः' (आत्मनेपद) होना चाहिए ।

(६४४) 'भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः । पैतृष्वस्रेयान् स्मरति...।' (भागवत १०।४९।९ + १०।७१।३९)

(क) 'भ्रात्रेयः' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'भ्रात्रेय' का अर्थ = भ्राताका पुत्र, भतीजा है ।

'भ्रातुर्व्यच्च' (अष्टा० ४।१।१४४) के अनुसार 'भ्रात्रीयः' साधु है ।

(ख) पैतृष्वस्रेयान्' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'पितृष्वसुश्छण्' (अष्टा० ४।१।१३२) के अनुसार 'पैतृष्वस्रीयः साधु है ।

(६०५) तथापि सूनृतासौम्य हृदिनस्थीयते चले। (भागवत १०।४९।२७)

'स्थीयते' अशुद्ध है । 'तिष्ठति' (कर्तृवाच्य) होनाचाहिए ।

दशमस्कन्धः (उत्तरार्द्धः)

(६४६) 'हतद्विपद्धीपहयग्रहाकुलाः (भागवत १०।५०।२६)

'ग्रह' अशुद्ध है । 'ग्राह' शुद्ध है ।

(६४७) मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् । (भागवत १०।५०।२८)

'हर्षकरीः' अशुद्ध है । 'हर्षकर्यः शुद्ध है ।

(६४८) एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः। (भागवत १०।५०।४२)

यहाँ 'तावती' स्त्रीलिङ्ग है जो पाणिनीय सूत्र 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' (अष्टा० ६।३।४२) के अनुसार पुल्लिंग' होना चाहिए और 'तावदक्षौहिणीबलः' शुद्ध है । 'तावत्' सप्तदशको निर्देश करता है और शब्द बहुव्रीहि समास है ।

(६४९) अष्टादशमसंग्रामे । (भागवत १०।५०।४४)

'अष्टादशम' अशुद्ध है । 'अष्टादश' होना चाहिए ।

(६५०) बन्धून् वधिष्यत्यथवा । (भागवत १०।५०।४८)

'वधिष्यति' अपाणिनीय प्रयोग है । 'हनिष्यति' होनाचाहिए । वध बन्धने आत्मनेपदी है । 'हनश्चवधः' (अष्टा० ३।३।७६) के अनुसार वध धातुका अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं है ।

(६५१) शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं । (भागवत १०।५१।३१)

'शुश्रूषताम् अशुद्ध है ।'

'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (अष्टा० १।३।५७) के अनुसार 'शुश्रूषमाणानाम्' होना चाहिए ।

(६५२) लब्ध्वाजनो दुर्लभमत्रमानुषम् ।' (भागवत १०।५१।४७)

'मानुषम्' अशुद्ध है । यहां संज्ञामें प्रयुक्त है ।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणिच' (अष्टा० ५।१।१२४) के अनुसार 'मानुष्यम्' शुद्ध है ।

(६५३) पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति । (भागवत १०।५१।५३)

'भूयेयम् अशुद्ध है । 'भूयासम्' या 'भवेयम्' शुद्ध है ।

(६५४) वृणीत आर्योवरमात्मबन्धनम् । (भागवत १०।५१।५६)

'अकः सवर्णे दीर्घः' (अष्टा० ६।१।९७) के अनुसार 'वृणीत' और 'आर्यो' अपाणिनीय प्रयोग हैं ।

(६५५) तुङ्गमारुहतां गिरिम् । (भागवत १०।५२।१०)

'आरुहताम्' अशुद्ध है । 'आरोहताम्' शुद्ध है ।

यह वैदिक शब्द है । लौकिक संस्कृतमें 'आरुक्षताम' होगा ।

(६५६) को नु तृप्येत शृण्वानः । (भागवत १०।५२।२०)

'शृण्वानः' अशुद्ध है, क्योंकि श्रु धातु परस्मैपदी है ।

(६५७) तामानयिष्य उन्मथ्य । (भागवत १०।५३।३)

'आनयिष्य' अशुद्ध है । आनेष्ये' शुद्ध है ।

(६५८) योत्स्यामः संहतास्तेन इति । (भागवत १०।५३।१९)

'योत्स्यामः' अशुद्ध है । धातु युध् (आत्मनेपदी) से 'योत्स्यामहे' शुद्ध है ।

(६५९) सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ प्राप्ति तदा भगवतः। (भागवत १०।५३।५४)

'चलय ी' अशुद्ध है। 'चालयन्ती' शुद्ध है।

(६६०) मास्म भैर्वामलोचने। (भागवत १०।५४।५)

'मा भैः' अशुद्ध है। 'मा भैषीः' शुद्ध है।

(६६१) कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत्। (भागवत १०।५४।२१)

'संयुगम्' अशुद्ध है। 'संयुगः' (पुल्लिङ्ग) शुद्ध है।

(६६२) बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलैरापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः। (भागवत १०।५४।५६)

'द्वारि द्वारि इति वीप्सार्थेऽव्ययीभावः' अतः 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (अष्टा० २।४।८४) के अनुसार 'प्रतिद्वारम् या प्रतिद्वारि' शुद्ध है।

(६६३) स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम्। (भागवत १०।५५।२१)

'दैतेयीम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

अपत्यार्थमें केवल ढक् जोडा जाता है। तद्धित अविधिमत है।

(६६४) यदभजन् रहरूभावाः। (भागवत १०।५५।४०)

'रहरूभावः' अशुद्ध है। 'रहोरूढभावाः' होना चाहिए।

(६६५) इति विज्ञात विज्ञानमृक्षराजानमच्युतः। (भागवत १०।५६।२९)

'ऋक्षराजानम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'राजाहः सखिभ्यष्टच्' (अष्टा० ५।४।९१) के अनुसार 'ऋक्षराजम्' शुद्ध है।

(६६६) आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेत रमुष्टिभिः। (भागवत १०।५६।२४)

यहाँ 'विंशति' शब्दसे 'ति' का लोप क्यों है?

(६६७) चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया। (भागवत १०।५७।१५)

'मोहिताजया' अशुद्ध है। 'मोहित अजया' शुद्ध है। यहाँ सन्धि अपाणिनीय है।

(६६८) कस्मिंश्चित् पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष पुरं व्रज। (भागवत १०।५७।२३)

'अन्वेष' अशुद्ध है। इस क्रियाविशे 'अन्विच्छ' पाठ होना चाहिए।

(६६९) पूजयन् प्रतिनन्दितः। (भागवत १०।५८।३५)

'प्रतिनन्दितः' कर्मवाच्यमें अशुद्ध है। 'कर्तृवाच्य' होना चाहिए।

(६७०) पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत्। (भागवत १०।५७।१५ & १०।७१।१४)

'निराक्रमत्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'क्रमः परस्मैपदेषु' (अष्टा० ७।३।७६) के अनुसार 'निराक्रामत्' शुद्ध है।

(६७१) विश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः। (भागवत १०।५९।४५)

'विश्रमणम्' का अर्थ टीकाकार पं० श्रीधर लिखते हैं 'पादसंवाहनम्' परन्तु यह शब्द अन्यत्र इस अर्थ (चरणदबाने) में नहीं पाया जाता है। अतः यहाँ व्यवहारदूषण है।

(६७२) केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना। (भागवत १०।६०।२६)

'प्रामृजत्' अशुद्ध है।

मृजूष् शुद्धौ (धातुपाठ १०६६) से 'प्रामाट्' (लङ्) अथवा 'प्रामार्जीत्' (लुङ्) शुद्ध है।

(६७३) यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि। (भागवत १०।६०।३१)

'नर्मैः' अशुद्ध है। 'नर्मभिः' शुद्ध है।

(६७४) कल्याणि नित्यदा। (भागवत १०।६०।५०)

'नित्यदा' अपाणिनीय प्रयोग है।

'सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा' (अष्टा० ५।३।१५) के अनुसार अशुद्ध है।

(६७५) दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या। (भागवत १०।६०।५६)

वहमर्पणेसे लङ् में 'असहः' अशुद्ध है।

'असहथाः' शुद्ध है; क्योंकि धातु आत्मनेपदी है।

(६७६) तस्याग्र आसीनन्। (भागवत १०।६२।३२)

यहाँ 'तस्याः' और 'अग्रे' के मध्य सन्धि अशुद्ध है।

यह पाणिनीके 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्रकी अवज्ञा है।

(६७७) शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत्।

(भागवत १०।६२।३४)

'अहनत्' अशुद्ध है। 'अहन्' शुद्ध है।

(६७८) निशम्याश्रुफलाक्ष्यरोदिषीत्।

(भागवत १०।६२।३५)

'अरोदिषीत्' अशुद्ध है।

रुदिर् अश्रुविमोचने धातुसे 'अरुदत्' या 'अरोदीत्' शुद्ध है।

(६७९) शिखिनापाक्रमदूरणात्।

(भागवत १०।६३।१५)

'अपाक्रमत्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'क्रमः परस्मैपदेषु' (अष्टा० ७।३।७६) के अनुसार 'अपाक्रामत्' साधु है।

(६८०) प्राद्युम्निंरथमारोप्य सवध्वा समुपानयत्।

(भागवत १०।६३।५०)

'सवध्वा' समास नियमविरुद्ध है।

'वोपसर्जनस्य' (अष्टा० ६।३।८२)के अनुसार 'सवधूम्' बहुव्रीहि समास होगा। यदि यह समास नहीं है तब अव्यय 'सह' किसी भी व्याकरणके नियमसे 'स' नहीं हो सकता है।

(६८१) 'स्वास्यपाक्रमत्'।

(भागवत १०।६४।२१)

'अपाक्रमत्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'क्रम परस्मैपदेषु' (अष्टा० ७।३।७६)के अनुसार 'अपाक्रामत्' शुद्ध है।

(६८२) 'आरुहत् पश्यतां नृणाम्।'

(भागवत १०।६४।३०)

'आरुहत्' अशुद्ध है और वैदिक (लुङ्) है।

'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि' (अष्टा० ३।१।५९)के अनुसार 'आरुक्षत्' होगा।

(६८३) 'यदर्थे जहिम दाशाह।'

(भागवत १०।६५।११)

'जहिम' अशुद्ध है। 'अजहिम' शुद्ध है।

(६८४) 'विजगाह जलं स्त्रीभिः।'

(भागवत १०।६५।२८)

'विजगाह' अशुद्ध है।

गाहू विलोडने (धातुपाठ ६८९) आत्मनेपदसे 'विजगाहे' शुद्ध है।

(६८५) यन्नायासि मयाऽऽहुता।

(भागवत १०।६५।२४)

'मयाऽऽहुता' अशुद्ध है।

(६८६) 'किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया।' (भागवत १०।६८।२६)

'भुञ्जन्ति' अपाणिनीय प्रयोग है।

'भुजोऽनवने' (अष्टा० १।३।६६)के अनुसार 'भुञ्जते' शुद्ध है।

(६८७) 'तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान् मानिनोऽब्रुवन्।' (भागवत १०।६८।३३)[३५]

'दुर्भाषान्' अशुद्ध है। 'दुर्भाषाः' शुद्ध है, क्योंकि 'भाषा' सदैव स्त्रीलिङ्ग है।

(६८८) 'प्रभावं विदाम ते'

(भागवत १०।६८।४४; १०।६९।१७)

'विदाम' अशुद्ध है। 'विद्म' शुद्ध है।

(६८९) 'पुत्र मा खिदः।'

(भागवत १०।६९।४०)

धातु खिद् आत्मनेपदका 'खिदः' रूप है अपाणिनीय है।

(६९०) 'वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः।' (भागवत १०।७०।२)

'अरूरुवन्' अशुद्ध है।

'गुणो यङ्लुकोः' (अष्टा० ७.४.८२) के अनुसार 'अरोरुवन्' शुद्ध है।

(६९१) 'वाचः पेशैः स्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः।' (भागवत १०।७०।४५)

'वाचपेशैः' = पेशलवाग्भिः।

लौकिक साहित्यमें 'वाचपेशैः' का प्रयोग नहीं होता है। 'वाचःपेशोभिः' शुद्ध है। अलुक समास है।

(६९२) 'त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति।'

(भागवत १०।७२।४)

---

३५ पण्डित-पुस्तकालय, काशी संस्करण, सामयिकी भा. टी., पृष्ठ २५८ में मुहुर्दुर्मंवान्' पाठ है जो अशुद्ध है। 'दुर्भावान्' पाठ गीताप्रेस, गोरखपुर व मथुरा संस्करणमें है जो उचित है— (लेखक)

×

उपसर्ग 'परि' और क्रिया 'चरन्ति' अन्य शब्द 'ये' द्वारा पृथक् होते हैं। ऐसा प्रयोग वेदोंमें होता है, लौकिक साहित्यमें नहीं होता है।

(६९३) 'दहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः।'

(भागवत १०।७२।२६)

(क) 'पतमानेन' अशुद्ध है। 'पतता' शुद्ध है।

(ख) ईह आत्मनेपद है अतः 'ईहता' अशुद्ध है। 'ईहमानेन' शुद्ध है।

(६९४) 'अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम्।' (भागवत १०।७२।२९)

'मातुलेयम्' अपाणिनीय प्रयोग है, क्योंकि 'मातुल' शुभ्रादिगणमें सम्मिलित नहीं है।

(६९५) क्रुद्धो स्वमुष्टिभिरयः स्पर्शैरविग्रहाम्।

(भागवत १०।७२।३८)

यहाँ 'स्पर्श' प्रयोगसे छन्दोभंग होता है।

(६९६) दिलादि निरगमन्त।

(भागवत १०।७२।४०)

'निरगन्' अशुद्ध है। 'निरगमन्' शुद्ध है।

(६९७) इरम्भन्त इव बाहुभिः।

(भागवत १०।७३।६)

रभि धातु यहाँ प्रयोग परिरम्भमाना आलिङ्गन) के अर्थमें प्रयोग किया गया है। यह अपाणिनीय है।

(६९८) नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन।

(भागवत १०।७३।९)

'अन्वसूयामः' अशुद्ध है।

पाणिनीय सूत्र 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (अष्टा० ३।१।२७) के अनुसार असूञ् उपतापे 'कण्ड्वादिधातु' है। अतः 'असूयामः' होना चाहिए परन्तु यह क्रिया 'अनु' उपसर्गके साथ प्रयोग नहीं होती है।

(६९९) अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं।

(भागवत १०।७३।१४)

'मृगतृष्णा' शब्दका प्रयोग होता है। 'मृगतृष्णि' का प्रयोग नहीं होता है। 'तृष्णि' शब्द 'संस्कृत शब्दकोष' में नहीं है। अतः 'मृगतृष्णि अशुद्ध है।

(७००) प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः।

(भागवत १०।७३।२८)

'प्रीणय्य' अपाणिनीय प्रयोग है।

'प्रीणयित्वा' होना चाहिए।

(७०१) यथान्वशासद् भगवांस्तथा।

(भागवत १०।७३।३०)

'अन्वशासत्' अशुद्ध है।

शासु अनुशिष्टौ (धातुपाठ १०७५) से 'अन्वशात्' होगा।

(७०२) तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञः प्रकृतयो नृप।

(भागवत १०।७४।११)

'सर्वराजानः' अशुद्ध है। 'सर्वराजाः' होना चाहिए।

(७०३) राजसूयावभृथ्येनस्नातो राजा युधिष्ठिरः।

(भागवत १०।७४।५१)

'आवभृथ्य' प्रयोग अशुद्ध है। छन्दोभंगभयसे ऐसा किया प्रतीत होता है।

(७०४) भवान् मयापोवाहितो रणात्।

(भागवत १०।७६।३३)

'अपोवाहितः' अशुद्ध है। 'अपवाहितः' शुद्ध है।

(७०५) वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमाशश्वेत्।

(भागवत १०।७७।२६)

'वीक्षतः' अशुद्ध है। 'वीक्षमाणस्य' / आत्मनेपद' होगा।

(७०६) किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः।

(भागवत १०।७७।३६)

'पुरुमायिनः' प्रयोग लौकिक साहित्यमें नहीं होता है।

'पुरुमायस्य' होगा। वेदोंमें ऐसा ही प्रयोग है। यथा 'नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति पुरुमायस्य —

(ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त १८, मंत्र १२)

(७०७) सरस्वतीं प्रतिस्रोतं यया ब्राह्मणसंवृतः।

(भागवत १०।७८।१८)

प्रतिस्रोतम्' अशुद्ध है। 'प्रतिस्रोतः' अव्ययीभाव समास शुद्ध है।

(७०८) करस्थैनाहनत् प्रभुः।

(भागवत १०।७८।२८ & १०।७९।५)

'अहनत्' अशुद्ध है।

हन् हिंसागत्योः (अदादि) से 'अहन्' होगा।

(७०९) अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः।

(भागवत १०।७९।१०)

'अनुस्रोतेन' अशुद्ध है। 'अनुस्रोतसा' होना चाहिए।

(७१०) विरमेतविशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणः।

(भागवत १०।८०।१२)

'विरमेत' अपाणिनीय प्रयोग है।

'व्याङ्परिभ्यो रमः' (अष्टा० १।३।८३) के अनुसार 'विरमेत् होगा।

(७११) आत्मनो ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम् । (भागवत १०।८०।२७)

'गृह्य' अशुद्ध है । 'गृहीत्वा' शुद्ध है । पाणिनी मुनि 'ल्यप्' का आदेश वहाँ करते हैं जहाँ 'गति समास' होता है । पाणिनीय सूत्र 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (अष्टा० ७।१।३७) के अनुसार ऐसा आदेश है ।

(७१२) वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुयः ।

(भागवत १०।८०।३८)

'परिब्रमिम' अशुद्ध है । 'परिबभ्रमिम' शुद्ध है । भ्रमु (भ्वादी) धातुसे ऐसा बनता है ।

(७१३) स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ।

(भागवत १०।८१।२३)

'हरिणाक्षिभिः' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (अष्टा० ५।४।११३) के अनुसार 'हरिणाक्षीभिः' शुद्ध है ।

(७१४) तत्रागन् भारतीः प्रजाः ।

(भागवत १०।८२।५)

(क) 'भारतीः' अशुद्ध है ।

'सुपांसुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया डाड्यायाजालः' (अष्टा० ७।१।३९) के अनुसार 'भारत्यः' होना चाहिए ।

(ख) 'आगन' अशुद्ध है । 'आगमन्' शुद्ध है ।

(७१५) व्यराचन्त महातेजाः पथि ।

(भागवत १०।८२।८)

'महातेजाः' अशुद्ध है । 'महातेजसः' शुद्ध है ।

(७१६) येषां गृहे निरयवत्मनिवर्ततां वः ...स्वयमास विष्णुः । (भागवत १०।८२।३१)

(क) 'वर्तताम्' अशुद्ध है । 'वर्तमानानाम्' (आत्मनेपद शुद्ध है ।

(ख) 'आस' अशुद्ध है ।

'अस्तेर्भूः' (अष्टा० २।४।५२) के अनुसार 'बभूव' होगा ।

(७१७) ...अध्यगन् । (भागवत १०।८२।४८)

'अध्यगन्' अपाणिनीय प्रयोग है । 'अध्यगुः' होना चाहिए ।

(७१८) सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाऽभ्ययुध्यत् ।

(भागवत १०।८३।१०)

'त्रिणवहानि' अशुद्ध है । 'त्रिणवाहानि' = (२७ दिवस) शुद्ध है ।

(७१९) श्रियौ कस्तस्या । (भागवत १०।८३।१२)

'पूर्वत्रासिद्धम्' के विरुद्ध यहाँ 'श्रियः + ओकः' सन्धिकार्य है । समास भी अशुद्ध है ।

(७२०) आददुः सशरं चापं ।

(भागवत १०।८३।२१)

'आददुः' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'आङो दोऽनास्यविहरणे' (अष्टा० १।३।२०) के अनुसार 'आददिरे' होना चाहिए ।

(७२१) गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ।

(भागवत १०।८३।४३)

'गावः' अशुद्ध है । 'गाः' शुद्ध है ।

(७२२) सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।

(भागवत १०।८४।७)

'अर्चयत्' लङ्में अशुद्ध है । 'आर्चयत्' शुद्ध है ।

(७२३) 'यदीशितव्यायति गूढ ईह्या अहो ।'

(भागवत १०।८४।१६)

'ईशितव्यायति' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टा० ३।१।११) के अनुसार 'ईशितव्यायते' होना चाहिए ।

(७२४) 'प्रणम्य चोपसंगृह्य 'बभाषेदं सुयन्त्रितः ।' (भागवत १०।८४।२८)

यहाँ सन्धिकार्य कैसे ?

(७२५) 'मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः ।'

(भागवत १०।८४।६४)

यहाँ 'माङ्' के योगमें 'अट्' कैसे ?

(७२६) 'एतावतालमलमिन्द्रियलालसेनमर्त्यात्मदृक् ।' (भागवत १०।८५।१९)

'लालसेन' अशुद्ध है । 'लालसया' शुद्ध है ।

(७२७) 'तेनासुरीमगन् योनिमधुना वधकर्मणा ।' (भागवत १०।८५।४८)

'अगन्' अशुद्ध है । 'अगमन्' शुद्ध है ।

(७२८) 'सभार्योऽवनिजे मुदा ।'

(भागवत १०।८६।३९)

'अवनिजे' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' (अष्टा० ७।४।७५) के अनुसार 'अवनेनिजे' होना चाहिए । णिजिर् शौचपोषणयोः (जुहोत्यादि) आत्मनेपदसे ऐसा रूप बनता है ।

(७२९) 'ये च भिदां विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।'

(भागवत १०।८७।२५) ३६

'आरुपितैः' अपाणिनीय प्रयोग है । '' आरोपितैः' शुद्ध है ।

(७३०) 'सोऽबिभ्यत् स्वकृताच्छिवः ।'

(भागवत १०।८८।२३)

'अबिभ्यत्' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'अबिभेत्' शुद्ध है ।

(७३१) 'मावज्ञात्मानमात्मना ।'

(भागवत १०।८९।४६)

'मा अवज्ञ' अशुद्ध है । 'मा अवजानीहि' अथवा 'अवज्ञासीः' शुद्ध है ।

'...उद्धृतबृहत्कवरप्रसूनाः ।

(७३२) कान्तं स्म रथकजिहीरषयोपगुह्य ।'

(भागवत १०।९०।१०)

(क) 'जिहीरषा' अशुद्ध है । 'जिहीर्षा' शुद्ध है ।

(ख) 'कवर' अपाणिनीय प्रयोग है । 'कवरी' (स्त्रीलिंग) शुद्ध है ।

(७३३) '...मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म ।'

(भागवत १०।९०।२३)

'मुष्ट' अशुद्ध है । मुष स्तेये (धातुपाठ १५३०) से 'मुषित' शुद्ध है, क्योंकि धातु सेट् है ।

(७३४) 'न ह्येतस्मिन् कुले जाता अधना अबहुप्रजाः । (भागवत १०।९०।३९)

'अबहुप्रजाः' बहुवचन और अपाणिनीय प्रयोग है ।

'अबहुप्रजसः' होना चाहिए ।

'...निजवर्त्मरिरक्षया...

(७३५) ...यदुत्तमस्य श्रूयादमुष्य ।'

(भागवत १०।९०।४९)

(क) 'श्रूयात्' अशुद्ध है ।

धातु श्रु स्वादि है और 'श्रुवः शृ च' (अष्टा० ३।१।७४) के अनुसार श्रु शृ हो जाता है । अतः 'शृणुयात्' साधु है ।

(ख) 'रिरक्षा' अपाणिनीय है । 'रिरक्षिषा' होना चाहिए ।

स्कन्ध ११

(७३६) 'भुवोऽवतारयद् भारं ।'

(भागवत ११।१।१)

'अवतारयत्' अशुद्ध है । 'अवातारयत्' शुद्ध है । छन्दोभङ्ग भयसे ऐसा प्रयोग प्रतीत होता है ।

(७३७) 'मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य ।'

(भागवत ११।२।३३)

'अकुतश्चिद्भयम्' समास अशुद्ध है ।

(७३८) 'लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति ।'

(भागवत ११।३।९)

'प्रतपिष्यति' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'प्र + तप् लृट् अनिट् है । 'प्रतप्स्यति' शुद्ध है ।

(७३९) पश्येत पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् । (भागवत ११।३।१८)

'मिथुनीचारिणाम्' अपाणिनीय प्रयोग है ।

'मिथुनचारिणाम् शुद्ध है ।

(७४०) आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्णभूषणाम् । (भागवत ११।४।१४)

'वृङ्ध्वम्' अशुद्ध है । 'वृणीध्वम्' शुद्ध है

(७४१) संस्तुन्वतोऽग्निपतिताञ्छ्रमणानृषींश्च । (भागवत ११।४।१९)

'संस्तुन्वतः' अशुद्ध है । 'संस्तुवतः' शुद्ध है ।

भागवतकारने यहाँ ष्टुञ स्तुतौ (धातुपाठ १०४३) स्वादि धातुमें प्रयोग किया है जब कि यह अदादि लौकिक संस्कृतमें होता है ।

(७४२) शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ।

(भागवत ११।४।२२)

'न्यहनिष्यत्' अशुद्ध है । 'निहनिष्यति' शुद्ध है ।

(७४३) सतोऽवमन्यन्ति हरिं प्रियान् खलाः ।

(भागवत ११।५।९)

'अवमन्यन्ति' अपाणिनीय प्रयोग है ।

(७४४) सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् । (भागवत ११।५।४१) ३७

'कर्तम्' अशुद्ध है । 'कर्त्वम्' या कृत्यम्' शुद्ध है ।

'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (अष्टा० ३।४।१४) के अनुसार 'कर्त्वम्' वैदिक शब्द होता है ।

---

३६ पण्डित पुस्तकालय, काशी संस्करण, सामयिकी भा. टी. पृष्ठ ३३५ में 'आरुपितैः' पाठ अशुद्ध है । गीता प्रेस, गोरखपुर व मथुरा संस्करणमें 'आरपितैः' होना चाहिए । — (लेखक)

३७ पण्डित-पुस्तकालय, वाराणसी संस्करण सामयिकी भा. टी. में 'कर्तुम्' अशुद्ध मुद्रित है । गीता प्रेस, गोरखपुर व मथुरा संस्करण, बाल बोधिनी भा. टी. में 'कर्तम् पाठ है— (लेखक)

टीकाकार पं० श्रीधर लिखते हैं- 'कृतीछेदने इत्यस्मात् भेदं परिहृत्य 'वासुदेवः सर्वमिति बुद्धया, जो काल्पनिक और तर्कहीन है।

(७४५) भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम्। (भागवत ११।५।५०)

'हन्तवे' शब्द वैदिक है जो 'हन्' धातुसे बनता है तब 'भूभारराजन्य हन्तवे' रूपमें समास अशुद्ध है।

'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यै अध्यैन्कध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः' (अष्टा० ३।४।९) के अनुसार 'भूभारराजन्यान् हन्तुम्' (लौकिक संस्कृतमें) होगा।

(७४६) पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः। यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो ... (भागवत ११।६।१२)

(क) 'पर्युष्ट' अशुद्ध है। 'पर्युषित' होना चाहिए।

(ख) 'प्रतिपत्नि' अपाणिनीय प्रयोग है।

'पत्युनों यज्ञसंयोगे' (अष्टा० ४।१।३३) के अनुसार 'प्रतिपत्नी' शुद्ध है।

(ग) 'आददत्' अशुद्ध है।

'आङो दोऽनास्यविहरणे (अष्टा० १।३।२०) के अनुसार आ + दा आत्मनेपद है और 'आददत' होना चाहिए।

(७४७) आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गैस्तीर्थद्वयं। (भागवत ११।६।१९)

'आनुश्रवम् अशुद्ध है। 'आनुश्रविक' ठञ् से शुद्ध रूप होगा।

(७४८) ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्। (भागवत ११।७।३४)

'सुपेशकृत्' अशुद्ध है। 'सुपेशस्कृत' शुद्ध है।

(७४९) नीडेस्वपत्युः सन्निधौसती। (भागवत ११।७।५७)

'स्वपत्युः' अपाणिनीय प्रयोग है।

'पतिःसमास एव' (अष्टा० १।४।८) के अनुसार 'स्वपतेः' होगा।

(७५०) सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः। (भागवत ११।८।१६)

'आशासानाम्' अशुद्ध है। 'आशासमानानाम्' शुद्ध है।

(७५१) स्वनं महत्। (भागवत ११।९।६)

'स्वन् पुल्लिंग है इसलिए 'महत्' के साथ एक रूप नहीं होसकता है। अतः यह प्रयोग अशुद्ध है।

(७५२) नाद्रियेत् कर्म चोरनाम्। (भागवत ११।१०।४)

'नाद्रियेत्'। आ + दृङ आत्मनेपद है। अतः यह अपाणिनीय प्रयोग है।

(७५३) सङ्गम्य निरसेदेत द्दस्तबुद्धिं यथाक्रमम्। (भागवत ११।१०।११)

'निरसेत्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'निरस्येत्' होना चाहिए।

(७५४) मनो मय्यर्प्य सर्वगे। (भागवत ११।११।२१)

'अर्प्य' अपाणिनीय प्रयोग है।

'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वोल्यप्' (अष्टा० ७।१।३७) के अनुसार 'अर्पयित्वा' होना चाहिए। यहां गति समास नहीं है।

(७५५) आशु नश्यति तन्मूलोह्यधर्म उभये हते। (भागवत ११।१३।३)

'उभये' अपाणिनीय प्रयोग है।

'उभयस्मिन्' (सर्वनाम) शुद्ध है।

(७५६) विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया। (भागवत ११।१३।३४)

'उरुधा' अपाणिनीय प्रयोग है।

(७५७) सुखमया दिशः। (भागवत ११।१४।१३)

'सुखमया' अपाणिनीय प्रयोग है।

'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः।' (अष्टा० ४।१।१५) के अनुसार 'सुखमय्यः' होना चाहिए।

(७५८) घण्टानादं बिसोर्णवत्। (भागवत ११।१४।३८)

'बिसोर्णवत् अशुद्ध है। 'बिसोर्णावत्' शुद्ध है।

(७५९) जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः। (भागवत ११।१५।३४)

'यावतीः' अपाणिनीय प्रयोग है।

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (अष्टा० ७।१।३९) के अनुसार 'यावत्यः' होना चाहिए।

(७६०) यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः। (भागवत ११।१६।१८)

'संयमताम्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'इषुगमियमां छः' (अष्टा० ७।३।७७) के अनुसार 'संयच्छताम्' होगा।

२७९ यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद् वा वायुना भवथः समोकसा ।
यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद् वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥ १२ ॥

२८० यदद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये ।
यत् पृत्सु तुर्वणे सहस्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः ॥ १३ ॥

२८१ आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ॥ १४ ॥

२८२ यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥ १५ ॥

२८३ अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १६ ॥

अर्थ— [२७९] हे अश्विदेवों ! (यत् इन्द्रेण) जो तुम इन्द्रके साथ (सरथं याथः) एक रथपर बैठकर चले जाते हो, (यत् वा) अथवा (वायुना समोकसा भवथः) वायुके साथ एकही घरमें रहते हो, (यत्) या जब (आदित्येभिः ऋभुभिः) अदितिके पुत्रों या ऋभु-संज्ञक कारीगरोंके (सजोषसा) साथ प्रेमपूर्वक निवास करते हो, (यत् वा) किंवा जब (विष्णोः विक्रमणेषु तिष्ठथः) विष्णुके विशेष संचारोंमें तुम उपस्थित होते हो, [पर हमारे समीप अवश्य आओ] ॥ १२ ॥

[२८०] (अद्य यत्) आज जब कि (वाजसातये) अन्नका बँटवारा करनेके लिए (अहं अश्विनौ हुवेय) मैं अश्विदेवोंको बुलाऊँ तो वे अवश्य आयेंगे, क्योंकि (अश्विनोः तत् अवः) अश्विदेवोंका वह संरक्षण (श्रेष्ठं यत् पृत्सु) उत्कृष्ट है, जो युद्धोंमें (तुर्वणे सहः) शत्रुवध करनेमें पूर्ण क्षमता रखता है ॥ १३ ॥

[२८१] हे अश्विदेवों ! (नूनं) अवश्य (आ यातं) आओ, (वां इमा हव्यानि हिता) तुम दोनोंके लिए ये हविर्भाग रखे हुए हैं; (इमे सोमासः) ये सोम (तुर्वशे यदौ अधि) तुर्वश एवं यदुके घरपर पाये जाते हैं, (इमे कण्वेषु) ये कण्वोंके मकानपर विद्यमान हैं (अथ वां) और अब ये तुम्हारे लिए रखे हैं ॥ १४ ॥

[२८२] हे (प्रचेतसा नासत्या) उत्कृष्ट मनवाले तथा असत्यसे दूर रहनेवाले अश्विदेवों ! (यत् पराके) जो दूर देशमें (अर्वाके) समीप भी (भेषजं अस्ति) औषध विद्यमान् है, (तेन) उससे (विमदाय वत्साय) मदसे रहित ऋषि वत्सके लिए (नूनं) निश्चयसे (छर्दिः यच्छतं) घर दे डालो ॥ १५ ॥

[२८३] (अहं) मैं (अश्विनोः) अश्विदेवोंकी (देव्या वाचा साकं) दिव्यगुणसंपन्न वाणीके साथ (प्र अभुत्सि) विशेष रीतिसे जागृत हो चुका हूँ, इसलिए हे (देवि) द्योतमान उषे ! (मर्त्येभ्यः) मानवोंको (मतिं रातिं) बुद्धि तथा देनको (वि आवः) अँधेरा हटाकर स्पष्ट करो ॥ १६ ॥

भावार्थ— ये दोनों देव इन्द्र, वायु, ऋभु और विष्णुके साथ रथोंमें बैठकर सर्वत्र संचार करते हैं। अर्थात् अन्य देव भी अश्विदेवोंके उत्तम कार्योंमें उसकी सहायता करते हैं ॥ १२ ॥

अश्विदेवोंके पास संरक्षणके साधन बहुत उत्तम हैं और वे शत्रुवध करनेके कार्यमें पूर्ण रूपसे सामर्थ्यशाली भी हैं ॥ १३ ॥

हे देवो ! तुम्हारे ज्ञानी भक्तोंने ये सोमरस तैय्यार करके तुम्हारे लिए रखे हैं, अतः तुम आकर पिओ ॥ १४ ॥

हे अश्विदेवो ! जो तुम्हारे पास या दूर देशमें औषध हैं, उन औषधोंसे तुम मद अर्थात् अहंकारसे रहित भक्तको सामर्थ्यशाली बनाओ ॥ १५ ॥

अश्विदेवोंके लिए की जानेवाली स्तुति उत्तम गुणोंसे युक्त होती है, और वह स्तोताको उत्तम ज्ञानसे युक्त करती है। हे उषे ! तुम भी अश्विदेवोंके उपासकोंकी बुद्धिको ज्ञानसे युक्त करके अज्ञानान्धकारको दूर करो ॥ १६ ॥

२८४ प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि ।
प्र यज्ञहोतरानुषक् प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥ १७ ॥
२८५ यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे ।
आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥ १८ ॥
२८६ यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः ।
यद् वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ १९ ॥
२८७ प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे । प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ २० ॥
२८८ यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः । यद् वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ २१ ॥

अर्थ— [२८४] हे द्योतमान ! (सूनृते) भलीभाँति ले चलनेवाली (महि) पूजनीय उषे ! तू अश्विदेवोंको (प्र बोधय) जागृत कर; हे (यज्ञहोतर्) यज्ञमें हवन करनेवाले ! (आनुषक्) सततरूपसे (मदाय) हर्ष उत्पन्न करनेके लिए (बृहत् श्रवः) बडे भारी अन्नको भी दे दो ॥ १७ ॥

[२८५] हे उषे ! (यत् भानुना यासि) जो तू किरणसे युक्त हो चली जाती है, और (सूर्येण सं रोचसे) सूर्यके साथ अत्यन्त जगमगाती है उसी समय (अश्विनोः अयं रथः ह) अश्विदेवोंका यह रथ निश्चयसे (नृपाय्यं वर्तिः आ याति) मानवोंने पालन करनेयोग्य घर चला जाता है ॥ १८ ॥

[२८६] (ऊधभिः गावः न) थनोंसे गायें जिस प्रकार दूध देती हैं वैसेही (यत्) जब (आपीतासः अंशवः) पीये हुए सोमरस (दुह्रे) दोहन करते हैं, (यत् वा) या जब (देवयन्तः) देवोंकी कामना करनेहारे (वाणीः) वाणियोंसे (अश्विना प्र अनूषत) अश्विदेवोंकी खूब स्तुति करते हैं ॥ १९ ॥

[२८७] हे (प्रचेतसा) उत्कृष्ट ज्ञानवाले अश्विदेवों ! (द्युम्नाय) धनके लिए, (शवसे) बलके लिए (नृ-साह्याय शर्मणे) जिससे मानवोंमें सहनशक्ति बढे ऐसे सुखके लिए (दक्षाय) दक्षताके लिए (प्र) खूब आयोजना करो ॥ २० ॥

[२८८] (उक्थ्या अश्विना !) हे प्रशंसनीय अश्विदेवों ! (नूनं यत्) सचमुच जब (पितुः योना) पिताके स्थानमें (धीभिः यत् वा सुम्नेभिः) कार्योंसे अथवा सुखोंसे (नि-सीदथः) बैठ जाते हो ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे उषे ! तू अश्विदेवोंको जगा, उन्हें प्रेरित कर और मनुष्योंमें हर्षको उत्पन्न करनेके लिए उन्हें उत्तम अन्न प्रदान कर ॥ १७ ॥

जब उषाकी किरणें प्रकट होती हैं और सूर्य भी उदय होनेको होता है, उस समय अश्विदेव सबके पास जाकर सबको स्वास्थ्य प्रदान करते हैं । प्रातःकाल उठना स्वास्थ्यके लिए लाभदायक होता है ॥ १८ ॥

गायें जिस प्रकार दूध देती हैं, उसी प्रकार यज्ञ करनेवाले भी इन अश्विदेवोंको सोमरस प्रदान करते हैं और उनकी खूब स्तुति करते हैं ॥ १९ ॥

हे देवो ! तुम हमें ऐसे कर्म करनेकी प्रेरणा दो कि जिससे हमें धन, बल, सहनशक्ति तथा उत्तम कार्य करनेकी कुशलता प्राप्त हो ॥ २० ॥

हे देवो ! तुम हमारे पिता होकर हमारा पालन करते हो, अतः जैसे पिता अपने पुत्रको हर तरहके सुख प्रदान करता है, उसी तरह तुम हमें सुख प्रदान करो ॥ २१ ॥

[१०]

(ऋषिः- प्रगाथो (घौरः) काण्वः । देवता- अश्विनौ । छन्दः- १ बृहती, २ मध्येज्योतिः, ३ अनुष्टुप् (पिंगलमतेन-शंकुमती), ४ आस्तारपंक्तिः, ५-६ प्रगाथः = (५ बृहती, ६ सतोबृहती) ।)

२८९ यत् स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद् वादो रोचने दिवः ।
यद् वा समुद्रे अध्याकृते गृहे ऽत आ यातमश्विना ॥ १ ॥

२९० यद् वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुरेवेत् काण्वस्य बोधतम् ।
बृहस्पतिं विश्वान् देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा ॥ २ ॥

२९१ त्या न्व१श्विना हुवे सुदंससा गृभे कृता ।
ययोरस्ति प्र णः सख्यं देवेष्वध्याप्यम् ॥ ३ ॥

२९२ ययोरधि प्र यज्ञा असूरे सन्ति सूरयः ।
ता यज्ञस्याध्वरस्य प्रचेतसा स्वधाभिर्या पिबतः सोम्यं मधु ॥ ४ ॥

---

[१०]

अर्थ- [२८९] हे अश्विदेवों ! (यत्) जो तुम (दीर्घप्रसद्मनि) लंबे घरोंसे युक्त लोकमें (यत् वा) अथवा (अदः दिवः रोचने) उस द्युलोकके जगमगाते स्थानमें (स्थः) रहते हो, (यत् वा) या (आकृते गृहे) चारों ओर ठीक बनाये घरमें, (समुद्रे अधि) समुन्दरमें रहो, परन्तु (अतः) वहाँसे (आ यातम्) इधर आओ ॥ १ ॥

[२९०] (मनवे यज्ञं) मनुके लिए यज्ञको (यत् वा संमिमिक्षथुः) जिस ढंगसे तुमने ठीक तरह सिक्त किया था, (काण्वस्य एव इत्) कण्वपुत्रके यज्ञको भी उसी तरह (बोधतं) समझ लो; (अहं) मैं बृहस्पतिको (विश्वान् देवान्) सभी देवोंको, इन्द्र एवं विष्णुको तथा (आशुहेषसा अश्विनौ हुवे) शीघ्रगामी घोडोंसे युक्त अश्विदेवोंको बुलाता हूँ ॥ २ ॥

[२९१] (त्या) उन दोनों (सुदंससा) अच्छे कर्म करनेवाले (गृभे कृता अश्विना) ग्रहण करनेके लिए उत्पन्न हुए अश्विदेवोंको, (ययोः) जिनकी (नः सख्यं) हमसे मित्रता (देवेषु अधि आप्यं) देवोंमें प्राप्त करनेयोग्य (प्र अस्ति) उच्च कोटिकी है, (नु हुवे) अभी बुलाता हूँ ॥ ३ ॥

[२९२] (ययोः अधि) जिन दोनोंके (यज्ञा प्र सन्ति) प्रकर्षसे होते हैं, जो (असूरे सूरयः) अविद्वानोंमें विद्वान् बनकर कार्य करते हैं, (ता) वे दोनों (अध्वरस्य यज्ञस्य) हिंसारहित यज्ञके (प्रचेतसा) अच्छे ज्ञाता हैं, तथा (या) जो (स्वधाभिः) अपनी धारक शक्तियोंसे (सोम्यं मधु पिबतः) सोमयुक्त मधु पी लेते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ- हे अश्विदेवो ! तुम चाहे अपने जगमगाते घर अर्थात् द्युलोकमें रहो, अथवा अन्तरिक्ष लोकमें रहो, पर हमारे द्वारा सहायताके लिए बुलाये जाने पर हमारे पास आओ ॥ १ ॥

मननशील ज्ञानी मनुष्यके यज्ञको ये देव पूर्णता तक पहुंचाते हैं । तथा ऐसे मनुष्यके यज्ञमें ये दोनों देव इन्द्र, विष्णु तथा इतर देवोंके साथ आते हैं ॥ २ ॥

ये दोनों देव उत्तम कर्म करनेवाले हैं, अतः इनके साथ सदा हमारी मैत्री रहे और वह मैत्री भी उच्च कोटिकी रहे । मनुष्य सदा उत्तम कर्म करनेवालोंके साथ निश्छल और निष्कपट मैत्री करे ॥ ३ ॥

ये दोनों देव अज्ञानियोंमें जाकर ज्ञानका प्रचार करके उन्हें ज्ञानी बनाते हैं और हिंसारहित यज्ञका संचालन बडी कुशलतासे करते हैं ॥ ४ ॥

२९३ यद॒द्याश्वि॑ना॒वपा॒ग् यत् प्राक् स्थो वा॑जिनीवसू ।
यद् द्रु॒ह्यव्यन॑वि तु॒र्वशे॒ यदौ॑ हु॒वे वा॒मथ॒ मा ग॑तम् ॥ ५ ॥

२९४ यद॒न्तरि॑क्षे॒ पत॑थः पुरुभुजा॒ यद् वे॒मे रोद॑सी॒ अनु॑ ।
यद् वां॑ स्व॒धाभि॑र॒धि॒तिष्ठ॑थो॒ रथ॒मत॒ आ या॑तमश्विना ॥ ६ ॥

[११]

(ऋषिः- वत्सः काण्वः । देवता- अग्निः । छन्दः- गायत्री, १ प्रतिष्ठा, २ वर्धमाना, १० त्रिष्टुप् ।)

२९५ त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा । त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑ ॥ १ ॥

२९६ त्वम॑सि प्र॒शस्यो॑ वि॒दथे॑षु सहन्त्य । अग्ने॑ र॒थीर॑ध्व॒राणा॑म् ॥ २ ॥

२९७ स त्वम॒स्मदप॒ द्विषो॑ यु॒यो॒धि जा॑तवेदः । अदे॑वीरग्ने॒ अरा॑तीः ॥ ३ ॥

२९८ अन्ति॑ चि॒त् सन्त॒मह॑ य॒ज्ञं मर्त॑स्य रि॒पोः । नोप॑ वेषि जातवेदः ॥ ४ ॥

अर्थ— [२९३] हे (वाजिनीवसू) सेनारूपी धनवाले अश्विदेवो ! (अद्य यत्), आज जो तुम (अपाक्) पश्चिम दिशामें (यत् प्राक्) या पूर्व दिशामें (स्थः) रहो, (यत्) जो तुम द्रुह्यु, अनु, तुर्वश यदुके पास रहो, पर (वां हुवे) मैं तुम्हें बुलाता हूँ (अथ) अच्छा अब (मा आ गतम्) मेरे निकट आओ ॥ ५ ॥

[२९४] हे (पुरुभुजा) बहुत बडी भुजावाले अश्विदेवो ! (यत्) जो तुम (अन्तरिक्षे पतथः) अन्तरिक्षमें उड्डान करते हो, (यत् वा इमे रोदसी अनु) अथवा इन दो द्युलोक या भूलोकके बीच चले जाते हो, (यत् वा) या कभी (रथं स्वधाभिः अधितिष्ठथः) रथपर अपनी धारक शक्तियोंसे चढ जाते हो, (अतः आ यातं) उधरसे इधर आओ ॥ ६ ॥

(१)

[२९५] हे (देव अग्ने) दिव्यगुण युक्त अग्ने ! (त्वं मर्त्येषु आ व्रतपा असि) तू मनुष्यों तथा देवोंके मध्यमें उत्तम व्रतोंका रक्षक है, इसलिये (यज्ञेषु त्वं ईड्यः) यज्ञोंमें तू स्तुतिके योग्य है ॥ १ ॥

[२९६] हे (सहन्त्य अग्ने) शत्रुओंको पराजित करनेवाले अग्ने ! (त्वं विदथेषु प्रशस्यः अध्वराणां रथीः असि) तू यज्ञोंमें स्तुति करनेके योग्य और हिंसारहित यज्ञोंका नेता है ॥ २ ॥

[२९७] हे (जातवेदः अग्ने) संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाले अग्ने ! (सः त्वं अस्मत् द्विषः अप युयोधि) वह तू हमसे शत्रुओंको दूर कर । तथा (अदेवीः अरातीः) आसुरी शत्रु सेनाको भी हमसे परे हटा ॥ ३ ॥

[२९८] हे (जातवेदः) स्वभावसे ज्ञानवान् प्रकाशशील अग्ने ! तू (अह रिपोः मर्तस्य) हमारे शत्रुजनके (अन्ति चित् सन्तं) समीपस्थ विद्यमान रहनेवाले (यज्ञं न उप वेषि) यज्ञकी कामना नहीं करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे देवो ! तुम पूर्व, पश्चिम या किसी भी दिशामें रहो, पर हमारी प्रार्थना सुनकर हमारे पास आओ ॥ ५ ॥

हे शक्तिशाली भुजावाले देवो ! जब भूलोक और द्युलोकके मध्यके अन्तरिक्ष लोकसे जाते हो, तब अपनी संपूर्ण धारक शक्तियोंसे युक्त होकर हमारे पास आओ ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! तू देवों और मनुष्योंके द्वारा किए जानेवाले उत्तम व्रतोंका रक्षक है और तू शत्रुओंको पराजित करनेवाला है, इसलिए सभी तरहके यज्ञोंमें तेरी ही स्तुति होती है ॥ १-२ ॥

हे अग्ने ! तू हमसे शत्रुओंको दूर कर और असुरोंकी सेनाको भी हमसे दूर ही रख । अपने शत्रुके यज्ञमें, चाहे वह कितने ही पासके स्थानमें हो रहा हो, तू कभी नहीं जाता, इसके विपरीत अपने भक्तके यज्ञमें, भले ही वह दूर हो, अवश्य जाता है ॥ ३-४ ॥

२९९ मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे । विप्रासो जातवेदसः ॥ ५ ॥
३०० विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये । अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥ ६ ॥
३०१ आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात् । अग्ने त्वांकामया गिरा ॥ ७ ॥
३०२ पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः । समत्सु त्वा हवामहे ॥ ८ ॥
३०३ समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे । वाजेषु चित्रराधसम् ॥ ९ ॥
३०४ प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि ।
त्वां चाग्ने तन्वं पिप्रयस्वा ऽस्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ १० ॥

अर्थ— [२९९] हे अग्ने ! (जातवेदसः विप्रासः मर्ताः) ज्ञानसे उत्पन्न हुए हुए ज्ञानी ब्राह्मणजन (अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे) मरणरहित तेरे विस्तृत नामका मनन करते हैं ॥ ५ ॥

[३००] (विप्रासः मर्तासः) विप्र और मरणधर्मवाले मनुष्य हम (विप्रं देवं अग्निं) मेधावी, दिव्यगुणयुक्त अग्निको (अवसे ऊतये गीर्भिः हवामहे) हव्यके द्वारा प्रसन्न करके, अपनी रक्षाके निमित्त स्तुतियों द्वारा बुलाते हैं ॥ ६ ॥

[३०१] हे (अग्ने) अग्ने (परमात् चित् सधस्थात्) परम उत्कृष्ट उत्तम वास स्थान द्युलोकसे भी (ते मनः वत्सः) तेरे मनको पुत्ररूप उपासक जन (त्वां कामया गिरा) तेरी अभिलाषा करनेवाली वाणीसे (आ यमत्) अपनी ओर आकर्षित करते हैं ॥ ७ ॥

[३०२] हे अग्ने ! (हि पुरुत्रा सदृङ्ङसि) निश्चयसे तू बहुत देशोंमें समानरूपसे देखनेवाला है । (विश्वाः विशः अनु प्रभुः) समस्त प्रजाओंका अधिपति है । ऐसे तुझको हम (समत्सु हवामहे) संग्राममें बुलाते हैं ॥ ८ ॥

[३०३] हम (वाजयन्तः वाजेषु समत्सु अवसे चित्रराधसं अग्निं हवामहे) अन्नकी कामनावाले होकर अन्न और बलके प्राप्त होनेवाले संग्राममें अपनी रक्षाके लिये अनेक ऐश्वर्योंको धारण करनेवाले अग्निको बुलाते हैं ॥ ९ ॥

[३०४] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (अध्वरेषु ईड्यः च हि कं प्रत्नः) यज्ञोंमें स्तुत्य और सुखदायक और अत्यन्त प्राचीन है (च सनात् होता च नव्यः सत्सि) और चिरकालसे ही होता एवं स्तुतिके योग्य होकर यज्ञमें विराजमान होता है । तू (त्वां तन्वं पिप्रयस्व) अपने शरीरको हविसे संतुष्ट कर (च अस्मभ्यं सौभगं आ यजस्व) और हमको भी सौभाग्यशाली बना ॥ १० ॥

भावार्थ— अग्निका नाम मनन करने योग्य है उसके अनेक नाम होनेसे वह बडा विस्तृत है । ऐसे इस अग्निको सभी ज्ञानी अपनी रक्षाके लिए स्तुतियों द्वारा बुलाते हैं ॥ ५-६ ॥

यह अग्नि सबको समान दृष्टिसे देखता है, इसके लिए न कोई शत्रु है न मित्र है । इसलिए यह सब प्रजाओंका स्वामी है । इसे सभी मनुष्य अपनी उत्तम उत्तम स्तुतियोंके द्वारा बुलाते हैं और इसकी सहायताको पानेकी इच्छा करते हैं ॥ ७-८ ॥

यह अग्नि यज्ञोंमें स्तुतिके योग्य सुखदायक और अत्यन्त प्राचीन होनेके कारण सभीके द्वारा बुलाया जा कर यज्ञमें जाता है तथा स्वयं हविसे सन्तुष्ट होकर यज्ञ करनेवालोंको भी सौभाग्यशाली बनाता है । इसीलिए अन्न और बल प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्य इस अग्निको बुलाते हैं ॥ ९-१० ॥

[१२]

(ऋषिः- पर्वतः काण्वः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- उष्णिक्, २१ शंकुमती (पिंगलमतेन) ।)

३०५ य इ॑न्द्र सोम॒पात॑मो॒ मदः॑ शविष्ठ॒ चेत॑ति । येना॒ हंसि॒ न्य१॒॑त्रिणं॒ तमी॑महे ॥ १ ॥

३०६ येना॒ दश॑ग्व॒मध्रि॑गुं वे॒पय॑न्तं॒ स्व॑र्णरम् । येना॑ समु॒द्रमावि॑था॒ तमी॑महे ॥ २ ॥

३०७ येन॒ सिन्धुं॑ म॒हीर॒पो रथाँ॑ इव प्र॒चो॒दयः॑ । पन्था॑मृ॒तस्य॒ यात॑वे॒ तमी॑महे ॥ ३ ॥

---

[१२]

अर्थ- [३०५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यं) जो तुम (सोमपातमः) अत्यधिक सोम पीनेवाले (शविष्ठः) बलवान् (मदः चेतति) आनन्दित होनेवाले तथा सब जाननेवाले हो, [उस तुमने] (येन) जिस [बल] से (अत्रिणः न हंसि) राक्षसोंको मारा। (तं) उस बलको [हम तुमसे] (ईमहे) मांगते हैं ॥ १ ॥

१ येन अत्रिणः नि हंसि— जिस बलसे तुमने राक्षसोंको मारा।

२ तं ईमहे— हम उस बलको मांगते हैं।

३ अत्रिणः— खानेवाले, खाऊ, दूसरेके भोगोंको स्वयं खानेवाले।

[३०६] हे इन्द्र ! (येन) जिस [बल] से (दशग्वं अध्रिगु) दशग्व तथा अध्रिगु ऋषि और (वेपयन्तं स्वर्ण-रम्) [भयसे] कांपते हुए दान दाता [यजमान] की (आविथ) रक्षा की थी और (येन) जिस [बलसे] (समुद्रं) समुद्रकी [रक्षा की थी] (तं ईमहे) उस बलको हम मांगते हैं ॥ २ ॥

१ ईमहे— मांगते हैं, 'ईमह इति याच्ञा कर्मा' (निघं. ३।१९)

२ स्वर्ण-रं— धनका दान करनेवाला, सुवर्णका दान करनेवाला।

३ अध्रि-गु— आगे जानेवाला, प्रगति करनेवाला।

४ दश-ग्वं— दस गौओंका पालन करनेवाला।

५ समुद्रः (सं-उत्-र)— मिलकर उन्नति करनेके लिये दान देनेवाला, समुद्र।

६ येन स्वर्ण-रं अविथ तं ईमहे— जिस बलसे तुमने धन दाताकी रक्षा की वह बल हम चाहते हैं।

[३०७] हे इन्द्र ! (येन) जिस सामर्थ्यसे (रथान् इव) रथोंके समान (महीः अपः) बडे बडे जल प्रवाहोंको (सिन्धुं) समुद्रकी [ओर] (प्रचोदयः) प्रेरित किया बहाया (ऋतस्य पन्थां यातवे) यज्ञके मार्गपर जानेके लिए (तं ईमहे) उस सामर्थ्यको मांगते हैं ॥ ३ ॥

१ ऋतस्य पन्थां यातवे तं ईमहे— यज्ञके मार्गपर जानेके लिए सामर्थ्यको हम प्राप्त करते है।
— सत्य या यज्ञके मार्गपरसे जानेके लिये सामर्थ्य चाहिये।

भावार्थ— हे बलशाली तथा आनंदयुक्त रहनेवाले इन्द्र ! जिस बलसे तुमने राक्षसोंको मारा था, उस बलसे हमें युक्त करो ॥ १ ॥

जो गौओंका पालन करता है और सदा आगे उन्नति करता जाता है, उसकी रक्षा इन्द्र करता है। इन्द्रके उस बलको हम भी मांगते हैं ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! आपने जिस सामर्थ्यसे तुमने बडी बडी नदियोंको प्रवाहित किया, उसी तेरे सामर्थ्यको हम इसलिए मांगते है कि हम सत्यके मार्गमें चल सकें। सत्य मार्गके अनुसरणमें ही अपनी शक्ति लगानी चाहिए ॥ ३ ॥

३०८ इमं स्तोमम्भिष्टये घृतं न पूतमद्रिवः । येना नु सद्य ओजसा ववक्षिथ ॥ ४ ॥
३०९ इमं जुषस्व गिर्वणः समुद्र इव पिन्वते । इन्द्र विश्वाभिरूतिभिर्ववक्षिथ ॥ ५ ॥
३१० यो नो देवः परावतः सखित्वनाय मामहे । दिवो न वृष्टिं प्रथयन् ववक्षिथ ॥ ६ ॥
३११ ववक्षुरस्य केतवं उत वज्रो गभस्त्योः । यत् सूर्यो न रोदसी अवर्धयत् ॥ ७ ॥
३१२ यदि प्रवृद्ध सत्पते सहस्रं महिषाँ अघः । आदित् त इन्द्रियं महि प्र वावृधे ॥८॥

अर्थ— [३०८] हे (अद्रि-वः) वज्र धारण करनेवाले इन्द्र ! (घृत न पूतं) घीके समान पवित्र (इमं स्तोमं) इस स्तोत्रको (अभिष्टये) हमें इष्ट धनका दान देनेके लिए सुनो (येन) जिससे [तुम] (ओजसा) बलसे युक्त होकर (सद्यः ववक्षित) शीघ्र [इष्ट धनको] दे सकते हो ॥ ४ ॥

१ पूतं स्तोमं अभिष्टये— पवित्र स्तुति अर्थात् शुद्ध मनसे की गई स्तुतिसेही इच्छित पदार्थकी प्राप्ति हो सकती है ।

२ अभिष्टिः— सब प्रकारसे इष्ट ।

[३०९] हे (इन्द्र) इन्द्र ! [तुम] (विश्वाभिः ऊतिभिः ववक्षिथ) संपूर्ण संरक्षणोंके साथ हमारा संरक्षण करते हो, अतः हे (गिर्वणं) स्तुतियोंके द्वारा सेवनके योग्य इन्द्र ! जैसे (समुद्र इव पिन्वते) समुद्र बढता है, वैसेही बढनेवाले [तुम] (इमं) इस स्तुतिको (जुषस्व) सुनो ॥ ५ ॥

१ विश्वाभिः ऊतिभिः ववक्षिथ— इन्द्र अपने भक्तका हर प्रकारसे संरक्षण करता है ।

[३१०] (यः देवः) जो देव इन्द्र (परावतः) दूर देशसे (नः सखित्वनाय) हमारी मित्रताके लिए [धनोंको] (मामहे) देता है, ऐसे तुम हे इन्द्र ! (दिवः वृष्टिं न) जैसे द्युलोकसे वर्षाको [फैलाते हो] वैसेही [धनोंको] (प्रथयन्) फैलाते हुए [तुम] (ववक्षिथ) [हमारे पास] पहुंचाते हो ॥ ६ ॥

१ देवः सखित्वनाय मामहे— देव मित्रताके लिए धन देता है । इन्द्र अपने भक्तोंको ऐश्वर्य देता है ।

२ मामहे— देता है ·' मंहतेर्दानकर्मणः ' (निघ. ३।२०) मामहे — पूजा करना ' मह पूजायाम् '

[३११] (यत्) जब यह इन्द्र (सूर्यः न) सूर्यके समान (रोदसी अवर्धयत्) द्यावा-पृथिवीको बढाता है, तब (अस्य केतवः ववक्षुः) इसकी किरणें फैलती हैं (उत) और (गभस्त्योः वज्रः) हाथोंमें वज्र भी वह लेता है ॥ ७ ॥

केतुः— पताका, किरण,

गभस्ती— बाहू- गभस्ती इति बाहुनामं (निघं. २।४)

[३१२] (प्रवृद्ध सत्पते) हे महान् तथा सज्जनोंके पालक इन्द्र ! (यदि) जब तुमने (सहस्रं महिषान्) हजारों बडे बडे शक्तिशाली असुरोंको (अघः) मारा, (आत् इत्) उसके बाद ही (ते इन्द्रियं) तुम्हारा बल (महि प्र वावृधे) अत्यधिक बढा ॥ ८ ॥

१ यदि सहस्रं महिषान् अघः— इन्द्रने जब हजारों बडे बडे सामर्थ्यवान् असुरोंको मारा ।

२ ते इन्द्रियं वावृधे— तेरी शक्ति बढी ।

भावार्थ—किसी मनोरथकी सिद्धि करनी हो, तो सच्चे और पवित्र मनसेही प्रभुकी भक्ति करनी चाहिए, तभी उस मनोरथ की सिद्धि हो सकती है ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! जिस तरह समुद्र नदियोंके पानीसे बढता है, उसी तरह तुम स्तुतियोंसे बढो और हमारी हर तरहसे रक्षा करो ॥ ५ ॥

यह ऐश्वर्यशाली देव दूर देशसे भी हमें धन प्रदान करता है । इसलिए हम उससे सदा मैत्री रखना चाहते हैं ॥ ६ ॥

जिस तरह सूर्य जब अपनी किरणोंको फैलाता है, तब द्युलोक और भूलोक प्रकाशित होकर विस्तृतसे दिखाई पडते हैं, उसी तरह इन्द्रकी किरणें चारों ओर फैलकर सारे विश्वको विस्तृत करती हैं ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! जब तूने सहस्रों राक्षसोंको मारा तब तेरा सामर्थ्य बढा । शत्रुओंको मारनेसे अपना सामर्थ्य बढता है ॥ ८ ॥

'ऋच्छते' अशुद्ध है।

'ऋगतिप्रापणयोः परस्मैपद धातु है अतः 'ऋच्छति' होना चाहिए।

(७७८) क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्यकालतः। (भागवत १२।६।४७)

'दुर्मेधान्' अपाणिनीय प्रयोग है।

'नित्यमसिच् प्रजामेधयोः।' (अष्टा० ५।४।१२२) के अनुसार 'दुर्मेधसः' होना चाहिए।

(७७९) 'तल्लोलुपतयाऽऽददुः।' (भागवत १२।६।६५)

'आददु.' अशुद्ध है।

आ + दा से 'आददिरे' (आत्मनेपद) होगा।

(७८०) 'अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्या-स्तथापरे।' (भागवत १२।७।३)

'अधीयेताम्' लङ्में अशुद्ध है।

'अध्यैयाताम्' शुद्ध है, क्योंकि पं. भट्टोजीदीक्षित आलोचना करते हैं इङ् अध्ययनने (१०४६) नित्यमधि पूर्वः इससे परस्वादियङ् तत आट् वृद्धिः अध्यैयाताम्' (सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी टीकासहित, निर्णयसागर प्रेस, सूत्र सं. २४५९)

(७८१) 'अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां-मत्पितुर्मुखात्। ...समध्यगाम्।' (भागवत १२।७।६)

(क) 'अधीयन्त' अशुद्ध है। 'अध्यैयत' होगा।

(ख) 'समध्यगाम्' अशुद्ध है। 'समध्यगीषि' या 'समध्यैषि' शुद्ध है।

(७८२) 'अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूल-संहिताः।' (भागवत १२।७।७)

'अधीमहि' अधि + इङ् (धातुपाठ १०४६) सर्वत्र आत्मनेपद है इसलिए लट्में 'अधीमहे' होगा। यदि यह लङ् है तो 'अध्यैमहि' होगा।

(७८३) 'शतह्रदाभीरूपतापितं जगत्।' (भागवत १२।९।१३)

'शतह्रदाभीः' अशुद्ध है। यहाँ दीर्घ क्यों है?

'शतह्रदाभिः होना चाहिए।

(७८४) 'मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः (भागवत १२।१२।१९)

'हयशिरादयः' में सन्धिकार्य अशुद्ध है।

'हयशिर आदयः' होगा।

(७८५) 'विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्यो-दधिमेखलाम्।' (भागवत १२।१२।६४)

'राजन्योदधिमेखलाम्' सन्धि अशुद्ध है।

'राजन्य उदधिमेखलाम्' होगा। एक सन्धिके होने पर पुनः सन्धि करना निषेध है।

'लोप शास्त्रस्य 'पूर्वत्रासिद्धम्' (अष्टाध्यायी ८।२।१) इत्यसिद्धत्वात् न पुनः स्वरसन्धिः।

(७८६) 'यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैःस्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदै-र्गायन्ति' (भागवत १२।१३।१)

(क) 'स्तुन्वन्ति' अशुद्ध है।

ष्टुञ् स्तुतौ अदादि है, स्वादि नहीं है। अतः 'स्तुवन्ति' होगा।

(ख) 'उपनिषदैः' अशुद्ध है। 'उपनिषद्भिः' शुद्ध है।

मुफ्त भेंट मुफ्त भेंट मुफ्त भेंट

आज ही इस योजना का लाभ उठाइए। इस योजनामें आपके द्वारा खरीदी गई पुस्तकोंके साथ अन्य पुस्तकें आपको संस्था की ओरसे मुफ्तमें भेंट रूपमें दी जाएंगी।

योजना - १ - (१) अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद (पांच भागोंमें)
कीमत रु. ६०-०० (डाकव्यय अलग रहेगा)

इन पांचों भागोंको एक साथ खरीदनेवालेको संस्थाकी ओरसे-

(१) ऋग्वेदसंहिता - (मूलमात्र)

(२) यजुर्वेदसंहिता-(मूलमात्र) या (२) सामवेदसंहिता- (मूलमात्र)

ये दो पुस्तकें मुफ्तमें दी जाएंगी। अथर्व - अनुवादके पांचों भाग हिन्दी-मराठी - गुजराती इन तीनों भाषाओंमें उपलब्ध हैं।

योजना - २ -(१) गीतापुरुषार्थबोधिनी मूल्य रु. ३०-००
(२) सामवेदभाष्य मूल्य रु. १८-०० (डाकव्यय अलग)

इन दोनों ग्रंथोंको एक साथ खरीदनेवालेको संस्थाकी ओरसे—
ऋग्वेदसंहिता (मूलमात्र)

मुफ्तमें दी जाएगी। योजना-२ की पुस्तकें हिन्दी तथा मराठी भाषाओंमें उपलब्ध हैं।

योजना - ३- (१) अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद —
(पांच भागोंमें) मूल्य ६०-००
(२) गीतापुरुषार्थबोधिनी मूल्य ३०-००
(३) चाणक्य सूत्राणि मूल्य १८-०० (डा. व्य. अलग)

इन तीनों पुस्तकोंको एक साथ खरीदनेवाले को संस्थाकी ओरसे—

(१) ऋग्वेदसंहिता (मूलमात्र)

(२) यजुर्वेदसंहिता (मूल) अथवा सामवेदसंहिता (मूल)

(३) पं. सातवलेकर—जीवनप्रदीप (हिन्दी)

ये पुस्तकें मुफ्तमें दी जाएंगी। योजना - ३ की सभी पुस्तकें हिन्दी और मराठी भाषाओंमें उपलब्ध हैं।

यह "मुफ्त भेंट योजना" दिसम्बर १९७५ तक ही रहेगी। अतः शीघ्रता करें और आज ही अपना ऑर्डर भेजें। ऑर्डर देते समय किस भाषामें पुस्तकें चाहिए इसका भी उल्लेख अवश्य करें। पुस्तकों के लिए आज ही लिखें।

व्यवस्थापक
स्वाध्याय मण्डल, पारडी
जि. बलसार (गुजरात)

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, पोस्ट- 'स्वाध्याय मण्डल, पारडी' [जि. बलसार]